विषय-सूची

धर्मराजका राजसूय यज्ञ

(११५०)

मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।
अयाजयन्महाराजं याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत्प्राचेतसमिवामराः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७४ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

जरासन्ध बध वृत्त सुनत नयननि जल आये।
नृपति भये अति दीन विनय युत वचन सुनाये॥
प्रभो ! आप ई राजसूयकी दीक्षा लेवें।
अथवा सेवक समुझि दास कूँ आयसु देवें॥
बोले हरि–'कुरु कुल तिलक ! राजसूय मख करहु तुम।
मरे कोप जीते नृपति, सम्मुख सेवक सकल हम॥

यज्ञ यागादि शुभकर्म उन्हींके सफल होते हैं, जिनपर भगवान्‌की कृपा होती है। भगवत् कृपाके बिना शुभ कर्म सम्पन्न हो

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! राजसूय यज्ञमें निमंत्रित होकर आये हुए राजाओंने बिना किसी प्रकारका विस्मय प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण भगवान्‌के अनन्य भक्त धर्मराजके इस वैभवशाली यज्ञको उचित ही समझा। देवताओंके सदृश तेजस्वी याजकोंने धर्मराजसे राजसूय यज्ञ विधिवत् उसी प्रकार कराया, जिस प्रकार प्राचीनकालमें वरुणदेवजीसे देवताओंने कराया था।"

नहीं हो सकते। भगवद्भक्त जो चाहे सो कर सकता है। जिनके सिर पर श्यामसुन्दर हैं, उन्हें संसारमें कठिन कुछ भी नहीं है, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। कठिन काम भी उनके लिये सरल बन जाता है, असंभव भी संभव हो जाता है। दुष्कर भी सुकर बन जाता है और अपूर्ण भी पूर्ण हो जाता है। इस लिये भगवान्के पाद पद्मोंमें प्रेम हो इस बातका ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्में भक्ति हो जाने पर तो जगत्के बड़े से बड़े समझे जाने वाले कार्य सामान्यसे हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपासे पृथिवीके समस्त राजा धर्मराजके अधीन हो गये। उनके कोषागार धन,रत्नों तथा मणि माणिक्योंसे परिपूर्ण हो गये, तब उन्होंने एक दिन भगवान्से अत्यंत ही नम्रताके साथ निवेदन किया—"यदुनन्दन! आपकी अनुग्रहसे अब मैं अनुभव करने लगा हूँ, कि अब राजसूय यज्ञ हो सकता है। पृथिवीपर अब ऐसा एक भी राजा नहीं जिसने आपकी अधीनता स्वीकार न करली हो। इन्द्रप्रस्थके कोषागारोंमें इतना अधिक धन भर गया है, कि वह वर्षों तक लुटाया जाय, तो भी समाप्त नहीं हो सकता। अतः मेरी इच्छा है राजसूय यज्ञ इन्द्रप्रस्थमें हो और आप ही यज्ञकी दीक्षा लें क्यों कि समस्त यज्ञोंको करने कराने वाले तथा भोक्ता हविर्दाता आप ही हैं। आप ही हवि हैं, आप ही अर्पण हैं, आप ही अग्नि हैं आप ही यजमान ऋत्विज सदस्य और सभापति हैं। अतः आप भगवती रुक्मिणीके सहित राजसूय यज्ञमें दीक्षित हों।"

यह सुन कर हँसते हुए भगवान् बोले—"धर्मराज! राजसूय यज्ञ करनेकी योग्यता तो आपमें ही है। आप द्रौपदीके साथ यज्ञकी दीक्षा लें। आपके यहाँ किसी वस्तुका अभाव नहीं है। आपकी समस्त आज्ञाओंको पालन करने वाले हम सब

सेवक समुपस्थित हो हैं। अब आप विलम्ब न करें।"

यह सुन कर धर्मराजके हर्षका 'ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने अपने चारों भाइयों और मंत्रियोंको बुला कर उनसे कहा—"राजसूय यज्ञ करना है। दही दूध, तथा घृत आदि रखनेको बड़े बड़े पक्के कुंड बनवाओ वे इस प्रकार घोटे जायँ कि उनमें मुख दिखाई दे। उनके ढकने चंदनकी लकड़ियोंके हों। तिल, जौ तथा चावलों का पर्वत लगा दो। गुड़ शकर बूरेकी बोरियाँ भरवा भरवा कर चुनवा दो। ब्राह्मणोंके लिये सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थोंको एकत्रित करो। सुन्दर मिठाई बनाने वाले देश देशान्तरोंसे पाचक बुलवाओ। चटनीके सब मसाले, रायतेकी वस्तुएँ, सोंठके लिये किसमिस गोला, छुआरे विपुल मात्रामें मँगवालो। पापड़ अभी से बनवा कर सुखवालो। दालमोंटका प्रबन्ध करलो फलाहारियोंके लिये फलाहारी वस्तुएँ मँगाओ। दुग्धाहारियोंके लिये तथा औरके लिये दूधकी मिठाइयाँ बनवाओ। सारांश यह है, कि किसी भी वस्तुका अभाव न हो। किसीके माँगने पर यह न कहना पड़े, कि अमुक वस्तु हमारे यहाँ नहीं है। यज्ञमें आकर जो भी जिस समय भी जिस वस्तुकी याचना करे, उसे उसी समय वही वस्तु तत्काल मिलनी चाहिए।"

सभीने एक स्वरसे कहा—"हाँ, प्रभो! ऐसा ही होगा। हम अभी सब प्रबन्ध किये देते हैं।"

यह कह कर सबने मिल कर यज्ञ सम्बन्धी सभी सामग्रियों को एकत्रित कर लिया। भगवान् वेदव्यासको इस यज्ञका प्रधान बनाया गया। उन्होंने यज्ञ करनेमें निपुण बड़े बड़े ऋषि मुनियों को आदमी भेज भेज कर बड़े सम्मानके साथ बुलाया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके दर्शनोंकी इच्छासे तथा धर्मराजके प्रेमपूर्वक आग्रहको मान कर बड़े बड़े ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि राजसूय यज्ञमें पधारे। उनमें कुछ मुख्य मुख्य ये थे। भगवान् वेदव्यास तो उस

यज्ञ महोत्सवके अध्यक्ष ही थे। उनके अतिरिक्त भरद्वाज, सुमन्तु गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनी, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, राम, भार्गव, आसुरि, वीत-होत्र, मधुच्छन्दा, वीरसोने और महामुनि अकृतव्रण आदि और भी बहुतसे वेदवित् ऋषि मुनि थे।

धर्मराजने अपने भाई नकुलको स्वयं हस्तिनापुर भेजा, कि वे जाकर हमारे कुलके सब लोगोंको बड़े आदर सत्कारके साथ ले आवें। धर्मराजकी आज्ञा पाकर नकुल हस्तिनापुर गये। वहाँ उन्होंने सबको आदर पूर्वक आमन्त्रित किया। भीष्म, धृतराष्ट्र तथा विदुर आदि यह सुन कर बड़े हर्षित हुए कि हमारे कुलमें एक ऐसे भी हुए जिन्होंने राजसूय यज्ञकी दीक्षा ली है। इस यज्ञ को या तो वरुणदेवने किया है या चन्द्रदेवने। वे सबके सब परम हर्षित होकर इन्द्रप्रस्थकी ओर चले। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कर्ण, शल्य, बाह्लीक, सोमदत्त, भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, जयद्रथ, यज्ञसेन तथा अन्यान्य भी बहुतसे राजा राजसूय यज्ञको देखने चले। दुर्योधन तो मन ही मन पांडवोंसे जलता था उनके ऐश्वर्यसे उसे आन्तरिक ईर्ष्या थी वह उनके यज्ञ में जाना नहीं चाहता था किन्तु लोक लाज और कुलव्यवहारके कारण उसे जाना ही पड़ा। वह भी बड़े ठाठ बाठ से अपने सब भाइयों सहित राजसूय यज्ञमें आया। सभी देश देशान्तरोंके राजा डेरा डाले गंगाके किनारे किनारे योजनों तक पड़े थे। हाथी घोड़ा और रथोंके कारण यज्ञस्थल एक विशाल नगरके समान प्रतीत होता था। अंग, वंग, कलिंग, सौराष्ट्र मगध द्रविण पांडय चोल कुन्तल मालव कश्मीर वाल्हीक तथा सहस्रों लक्षों पहाड़ी राजा धर्मराजके राजसूय यज्ञको देखने आये थे। धर्मराजने सबके स्वागत सत्कारका अत्यंत ही सुन्दर

प्रबन्ध किया था। उन्होंने एक स्वागत कारिणी समिति बना दी थी। उसके प्रधानाध्यक्ष थे द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह। समितिके कार्य संचालनका पूरा भार इन दोनोंके ही अधीन था। धर्मराजने इनको सर्वाधिकार दे रखा था। ये स्याह सफेद जो चाहें सो करें सब कार्योंके लिये उप समितियाँ बना दी थीं। उनके एक एक दो दो अध्यक्ष बना दिये थे। भोजन भंडारका काम उन्होंने भीमको सौंपा था क्यों कि जो स्वयं खाना नहीं जानता वह दूसरोंको क्या खिलावेगा। भोजनोंका प्रबन्ध ऐसे को ही सौंपना चाहिये जिसे स्वयं भोजन करने करानेमें रुचि हो। भीमसेन सवामन हलुएका तो जल पान ही करते थे। उन्हें जब जलपान की इच्छा होगी, तो उन्हें दूसरोंका भी ध्यान रहेगा। इस लिये भोजनका भार उनको दिया गया। किन्तु उनमें एक त्रुटि थी वे घरके थे धर्मराजके सगे भाई थे, कभी व्यय करते करते उनके मनमें लोभ न आजाय, मुक्त हस्तसे सबको देनेमें संकोच न करने लगें। कहीं यह न सोचें अन्न व्यर्थ जारहा है, अतः उनके साथ ही दुःशासनको भी भोजन विभागमें अध्यक्ष बनाकर रखा कि दोनों हाथोंसे लुटावे। द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाको ब्राह्मणोंकी सेवा सत्कारमें नियुक्त किया। यज्ञमें जो भी ब्राह्मण आवें उनका यथोचित सेवा सत्कार वे अपने सहयोगियोंको साथ लेकर करें। सञ्जयको आगत राजाओंके स्वागत सत्कारका काम दिया गया। जो राजा भेंट लेकर आवें उनसे भेंट लेनेका काम दुर्योधनको दिया गया। यह दुर्योधनका सबसे बड़ा सम्मान था। राजा लोग कुल वृद्धको ही आकर भेंट देकर प्रणाम करते हैं। दुर्योधन सम्राट की भाँति सबकी भेंट स्वीकार करता और सबके प्रणामोंको स्वीकार करता। कृपाचार्यको ब्राह्मणोंके लिये दक्षिणा देनेका काम सौंपा गया। वे जिस ब्राह्मणको जितना चाहें धन रत्न दे दें। जो राजा यज्ञ देखने आवें उनका माला, चन्दन ताम्बूलादिसे

स्वागत सत्कार करना यह सहदेवजीका काम था। जिस विभाग के लिये जो भी वस्तु आवश्यक हो उसके जुटाने और संग्रह करने का काम नकुलको सौंपा गया। अर्जुनका एकमात्र कार्य यह था भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र दुर्योधन तथा अन्यान्य पूज्यजनोंका सब प्रबन्ध ठीक हो रहा है या नहीं। इनके सहकारी सेवक समयसे लगनके साथ कार्य कर रहे हैं या नहीं। उन्हें किसी बातकी असुविधा तो नहीं है। इसी बातकी वे समीक्षा करते रहते। दानाध्यक्षका कार्य महामना कर्णको सौंपा गया। क्यों कि जिसे धनमें तनिक भी ममत्व होगा, वह खुलकर मुक्त हस्तसे दान न कर सकेगा। संसारमें कर्णके समान दूसरा दानी कोई था ही नहीं। अतः दान देने पर वे ही नियुक्त किये गये। भोजन परसनेका काम स्वयं द्रौपदीजीने तथा उनके भाई धृष्टद्युम्न और शिखंडीने लिया। यज्ञमें व्यय करनेका काम विदुरजीको दिया गया। इनके अतिरिक्त सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, भूरिश्रवा और अन्यान्य वाह्लीक पुत्र संतर्दनादि अन्य बहुतसे विभागोंके अध्यक्ष बनकर यज्ञमें सेवा कार्य कर रहे थे।

जब धर्मराज सबको पृथक पृथक कार्य बाँट रहे थे, तब भगवान् वासुदेवने पूछा—"राजन्! हमें भी कोई कार्य दीजिये।"

स्नेह भरित कंठसे गद् गद् होकर धर्मराजने कहा—"वासुदेव! आप ही तो सब कर रहे हैं करा रहे हैं। आप तो सबके स्वामी हैं, आपको काम देने वाला कौन है, जो इच्छा हो वह कीजिये।"

हँस कर भगवान्ने कहा—"नहीं, राजन्! ऐसे कहनेसे काम न चलेगा। मुझे भी यज्ञमें कोई छोटा मोटा कार्य सौंपा जाय।"

धर्मराजने कहा—"माधव! मैं कह तो रहा हूँ, आपको जो अच्छा लगे, वही काम आप ले लें।"

भगवान्‌ने कहा—"देखो, सब अतिथि ऋषिमुनि पैरोंसे ही चल कर यज्ञ मण्डपमें पधारेंगे। चरणोंके अधिष्ठातृ देवता भगवान् विष्णु हैं और श्री विष्णुके ही प्रीत्यर्थ आप यज्ञ कर रहे हैं। आगत अतिथियोंके चरण पखारनेसे यज्ञकी सेवाका सर्व श्रेष्ठ फल मिलेगा। अतः मैं ऋषि मुनियोंके चरण धोनेका काम लेता हूँ।" यह सुन कर सबके नेत्रोंसे प्रेमके अश्रु झर झर करके झरने लगे। धर्मराजने कहा—"हाँ, प्रभो! यह काम तो आपके अनुकूल ही है। तभी तो आपका नाम ब्रह्मण्यदेव सार्थक होगा। यज्ञमें आगत अतिथि अपने आँखोंसे इस अद्भुत और अपूर्व दृश्यको स्वयं देखें।"

भगवान्‌ने कहा—"चाहे जो हो मैं तो यज्ञमें यही सेवा करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह कह कर भगवान्‌ने ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम अपने ऊपर लिया। भगवान्‌के कर कमल अति ही मृदुल थे। उनकी गद्दियाँ बड़ी गुद गुदी थीं, उनमेंसे निरन्तर दिव्य कमल जैसी गन्ध निकलती थी। जब वे अपनी दोनों मृदुल गुद गुदी गद्दियोंके बीचमें मुनियोंके चरणोंको दबाते और उन खुर दुरे पैरोंकी बड़ी बड़ी बिवाइयोंके बीचमें भरी कीचको अपनी सुकुमार उँगलियोंसे कुरेद कर निकालते, उस समय मुनियोंका मन मुकुर खिल जाता। वे ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो जाते। उन्हें बड़ा सुख प्रतीत होता अभी पैर धुलाकर गये हैं। कुछ देरमें इधर उधर फिर कर फिर पैर धुलाने आगये हैं। भगवान् न तो खीजते ही थे न बुरा ही मानते जो जितने बार पैर धुलाने आता उतने ही बार बड़े प्रेमसे धो देते।"

उसी समय दुर्वासा मुनि कहीं से घूमते घामते चले आये। उन्हें देख कर सभी डर गये। उनके पास तो शापकी पुटली बँधी हर समय रखी रहती थी। कोई उनके सम्मुख नहीं गया, न जाने

किस बात पर कुपित होकर शाप दे दें। वे आकर द्वार पर खड़े हो गये। भगवान् भी डर रहे थे, उनके सम्पूर्ण चरण कीचमें सने हुए थे भगवान् उनके चरणोंको धो तो रहे थे, किन्तु उनके हाथ काँप रहे थे। दुर्वासा भी संभव है, यह सोचकर ही आये होंगे, कि मैंने सबको तो शाप दिया है, यदि मैंने कृष्णको शाप न दिया तो फिर मेरा नाम दुर्वासा ही कैसा ?" भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, सबके घट घटकी जानने वाले हैं। वे समझ गये, मुनि मुझे शाप देना चाहते हैं। अच्छी बात है मुझे तो जो प्रेम से पत्र पुष्प, जल, फल यहाँ तक कि विष भी देता है उसे भी मैं स्वीकार करता हूँ। पूतना मुझे विषपान कराने आई थी। मैंने विषका भी पान कर लिया और व्याजमें उसके प्राणोंको भी पी गया। यही सब सोचकर उन्होंने चरण धोते धोते बायें पैरके नीचे थोड़ी सी कीच लगी छोड़ दी। अब क्या था, दुर्वासाजीने अपना शाप रूपी अमोघ अस्त्र छोड़ ही तो दिया। वे बोले— "कृष्ण ! तुम्हें बड़ा अभिमान है। तुमने सेवाका कार्य लिया है और उसे भली भाँति निभाते नहीं। देखो, मेरे पैरके बीचमें कीच लगी रह गयी, अतः मैं तुम्हें शाप देता हूँ, तुम्हारे भी पैरके बीचमें बाण लगेगा और उसीसे तुम्हारे शरीरका अन्त होगा।"

भगवान्ने सिर झुका कर मुनिके शापको सहर्ष शिरोधार्य किया। पीछे मुनिको पश्चात्ताप भी हुआ, किन्तु भगवान्ने यह कह कर उन्हें आश्वासन दिया, कि यह सब मेरी ही इच्छासे हुआ आप इस विषयमें चिन्ता न करें।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार धर्मराजका यज्ञ बड़ी ही धूम धामके साथ होने लगा। चारों ओर वेद ध्वनि सुनायी देती थी। भोजनोंकी वहाँ किसी को रोक टोक नहीं थी जो जितना चाहो आकर खाओ, इच्छानुसार बाँधकर ले जाओ। जिसने जिस वस्तुकी याचनाकी उसे वह वस्तु तुरन्त दी गयी।

उस यज्ञमें भातके पर्वत लगे हुए थे। दाल, कढ़ी, खीर, रायते तथा श्रीखण्ड आदिके कुंड भरे थे। खानेकी ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जो प्रचुर मात्रामें वहाँ न रखी हो। याचकों को इतनी वस्तुएँ दी गयीं कि वे दाता बन गये। ब्राह्मणोंको इतनी दक्षिणा दी गयी कि वे उसे उठानेमें भी असमर्थ हुए। इस प्रकार धर्मराज का यह राजसूय यज्ञ बड़ी धूम धामके साथ समाप्त हुआ। अब जैसे भगवान्‌की उसमें अग्रपूजा होगी। उसका वर्णन, मैं आगे करूँगा।

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि यज्ञके ठाठ रचाये।
करम कांड महँ कुशल वेदविद विप्र बुलाये॥
सुनत कण्व, त्रित, कवस, असित, क्रतु, पैल, पराशर।
गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, राम आदिक सब मुनिवर॥
आये मख महँ मुदित मन, अति स्वागत सबको करयो।
चरन पखारत प्रभुहिं लखि, नयन नीर सबके भरयो॥

भगवान् की अग्रपूजा

(११५१)

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणय विह्वलः ॥ *
(श्रीभा० १० स्क० ७४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

धूम धाम अति मची लेहु धन भोजन पाओ ।
मनमाने धन रतन बाँधिकें घर लै जाओ ॥
कहें नारि नर यज्ञ न ऐसो देख्यो कबहूँ ।
जल सम बरसत कनक चुकत नहिँ तनिकहु तबहूँ ॥
परब सोमरस पान दिन, करि याजक पूजन नृपति ।
प्रथम सभासद पूज्य को, जामें मच्यो विवाद अति ॥

संसार में पूजा भग की होती है । समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री. ज्ञान और वैराग्य इन छे वस्तुओं का नाम भग है । जिसमें ये छे वस्तु, पूर्ण रूप से विद्यमान् हों वे ही भगवान् कहाते हैं।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों का कथन श्रवण करके तथा सभासदों के हृद्गत भावों को जानकर एवं प्रेम में अत्यंत विह्वल होकर परम प्रसन्नता के साथ भगवान् हृषीकेश की पूजा की।"

जहाँ भी पूजा प्रतिष्ठा होती है इन्हीं छै कारणों से होती है। जो ऐश्वर्यशाली होते हैं, वीर्यवान्, यशस्वी, श्रीमान्, ज्ञानवान्, अथवा वैराग्यवान् होते हैं वे ही पूजे जाते हैं। संसार में तो वे अंश रूप से हैं। लोक में जो श्रीमान् कहाते हैं, उनके पास लाख दो लाख करोड़ अथवा अरब खरब द्रव्य होगा, किन्तु भगवान् की सेवा में तो सदा मूर्तिमती लक्ष्मी ही संलग्न रहती हैं। अतः उनसे बढ़कर श्रीमान् कौन होगा। जिस सभामें स्वयं साक्षात् साकार रूप से श्रीश्यामसुन्दर ही विद्यमान् हैं, उसमें उनके अतिरिक्त अग्रपूजा और किसी की हो ही कैसे सकती है। वैसे तो ऋषि, मुनि, देवता द्विज आदि सब उनके ही अंश हैं। किन्तु पुरुष रूप में तो वे ही पुरुषोत्तम हैं। नरों में तो वे ही नरोत्तम हैं। अब जहाँ नरों की पूजा का प्रश्न आवेगा सब से प्रथम नरोत्तम की ही पूजा होनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज का राजसूय यज्ञ अत्यंत ही उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ। यज्ञ के अन्त मे एक सौत्य दिवस होता है। जिस दिन सोमवल्ली नामक लता को कूटकर उसका रस निकाला जाता है उस सोमरस को देवताओं को पान कराते हैं। यज्ञ में वह दिन सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसी दिन यज्ञान्त स्नान भी करते हैं। उस दिन ऋत्विज, सदस्य, सभापति तथा आये हुए राजाओं का विशेष रूप से सम्मान किया जाता है। सबको सबकी पद प्रतिष्ठा और योग्यता के अनुसार अर्घ्य दिया जाता है।

धर्मराज ने प्रथम यज्ञ कराने वाले बड़े बड़े श्रोत्रिय वेदज्ञ याजकों का तथा सभापतिका सावधानी के साथ पूजन किया। यज्ञ के सदसस्पति, याजक तथा अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों का पूजन होने के अनन्तर अब यज्ञ में पधारे हुए सभी राजाओं का भी

सम्मान करना था। उन्हें भी अर्घ्य देकर सत्कृत करना था। वहाँ आये हुए सभी राजा अपनेको श्रेष्ठ समझते थे। अब प्रश्न यह उठा कि सर्वप्रथम अग्रपूजा किसकी की जाय। आज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सर्वप्रथम जिसकी पूजा की जायगी, वही सबसे श्रेष्ठ राजा समझा जायगा इस विषय में बड़ा मत भेद हो गया। वहाँ देश देशान्तरों के सहस्रों लाखों राजा समुपस्थित थे, सभी चाहते थे, हमारी सर्वप्रथम पूजा हो। अग्रपूजा का सम्मान हमें मिले। स्वयं अपने मुख से तो कोई कहता नहीं था अपने अपने समर्थक राजाओं से अपने नाम का प्रस्ताव कराते। जिसके पक्ष में बहुत से राजा हो जाते, वे कोलाहल करते अपने पक्ष के राजा की प्रशंसा करते। दूसरे प्रतिद्वन्दी राजाके दोष बताकर यह सिद्ध करते कि यह किसी प्रकार अग्रपूजा का अधिकारी नहीं। दूसरे राजा उसकी भी निन्दा करते। इस प्रकार बड़ा कोलाहल हुआ। कोई सर्व सम्मत निर्णय हो ही न सका। धर्मराज बड़े धर्म संकट में पड़ गये। वे सोचने लगे—"अब तक तो यज्ञ का कार्य सुचारु रीति से बड़े प्रेम के साथ सम्पन्न हुआ। यह अन्त में विकट मतभेद हो गया। वे शंकित चित्त से उठकर खड़े हुए और हाथ जोड़कर बोले—"राजाओ! आप सभी श्रेष्ठ हैं, सभी कुलीन हैं, सभी पूजनीय तथा नरपति हैं। तो भी अग्रपूजा तो एक की ही होगी। पूजन तो सभी का होगा, किन्तु सर्व प्रथम किनकी पूजा हो, आप सम्मति दें।"

यह सुनकर धर्मराज के छोटे भाई सहदेव जी खड़े हुए। उन्होंने आवेश में भरकर सब राजाओं को सम्बोधित करते हुए, कहा—"सभा में पधारे हुए सर्व सभासदगण! मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। इस सभा में सभी श्रेष्ठ हैं, किन्तु अग्रपूजा के एक मात्र अधिकारी यदुनन्दन भगवान् वासुदेव ही हैं। यज्ञके जितने धनादि उपकरण हैं, तथा देश, काल और पात्र जो साधन

हैं वे सब इनके ही रूप हैं। इनसे भिन्न किसीका अस्तित्व संभव ही नहीं। जितने भी अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, पशु-यज्ञ, सोम यज्ञ, तथा अन्यान्य यज्ञ हैं इन के ही स्वरूप हैं। अग्नि, आहुति, मंत्र सांख्य तथा योग आदि हैं वे सब इन्हीं के निमित्त हैं। समस्त शास्त्र इन्हीं का प्रतिपादन करते हैं। यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च इन्हीं का स्वरूप हैं। ये ही ब्रह्मा बनकर सृष्टि करते हैं, विष्णुरूप से पालन करते हैं और अन्त में रुद्र-रूप से उसका संहार करते हैं। इन्हीं अच्युतके आग्रह से अखिल जगत् विविध भाँति के कर्म करता है। सब कर्मों की सिद्धि देने वाले सिद्धिदाता सर्वेश्वर ये ही हैं। इसलिये मेरी सम्मति है, कि सबसे प्रथम अग्र पूजा इन अखिलेश्वर अच्युत की ही होनी चाहिए। ये जीव मात्र के स्वामी हैं, इनकी पूजा होने से सबकी पूजा हो जाती है। जिसे अपने कर्म अनन्त करने की इच्छा हो वह अपने सर्वकर्म इन्हीं को अर्पण कर दे। ये भेदभाव से रहित शान्त, परिपूर्ण और समस्त भूतों की अन्तरात्मा हैं। जो भी दान दिया जाय, इन्हें देने से वह अक्षय और अनंत बन जाता है, इसलिये मेरी सम्मति में ये ही अग्रपूजा के सर्व श्रेष्ठ अधि-कारी हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है, आप सब मेरे मत का समर्थन करेंगे और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की ही अग्र-पूजा हो, इसके लिये अपनी अपनी सम्मति सहर्ष प्रदान करेंगे।"

इस प्रकार अपने पक्ष का प्रबल युक्तियों से समर्थन करके भगवान् के प्रभाव को जानने वाले सहदेव जी खड़े रहे। इन्हें खड़े देखकर घुड़कते हुए धर्मराज बोले—"सहदेव! तुम अभी बच्चे हो। इस सभा में हमारे कुल गुरु हम सबके पितामह श्री-भीष्म उपस्थित हैं, फिर तुम्हें बोलने की क्या आवश्यकता है?"

धर्मराज की डाँट सुनकर सहदेव लज्जित हुए और अपने स्थान पर जाकर चुपचाप बैठ गये।

तब भीष्म पितामहने धर्मराजको रोकते हुए कहा—"युधिष्ठिर भैया ! यह तुम्हारा व्यवहार शास्त्र सम्मत नहीं है, वृद्ध वही नहीं है जिसके बाल पक गये हों। जो उचित और युक्तियुक्त बात कहे वही वृद्ध है। बालक भी यदि धर्मयुक्त श्रेष्ठ बात कहता हो तो वह माह्य है इसके विपरीत यदि वृद्ध भी हो और वह धर्म विरुद्ध बात कहे, तो उसे कभी भी न मानना चाहिए। सहदेव ने युक्तियुक्त बात कही है। हमारे यहाँ अर्घ्य देना एक विशेप सम्मान का सूचक है। आचार्य, ऋत्विज, श्वसुर, आदि अपने श्रेष्ठ सम्बन्धी, स्नातक ब्रह्मचारी, मित्र और राजा ये छै श्रेष्ठ माने गये हैं। अपने घर पर ये आवें तो अर्घ्य देकर इनका सम्मान करना चाहिए। जो बहुत दिन अपने साथ रहे हों वे भी अर्घ्यके अधिकारी हो जाते हैं। इस सम्बन्ध से यज्ञ में आये हुए ये सभी राजा हमारे पूजनीय हैं। तुम्हें इन सब को अर्घ्य देकर सम्मानित करना चाहिये। अब विवाद का विषय इतना ही है, कि सर्वप्रथम अर्घ्य किसे दिया जाय। प्राथमिक पूजा का अधिकारी किसे माना जाय। सदाचार ऐसा है कि जो उपस्थित राजाओं में सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और श्रेष्ठ हों, सर्व प्रथम उनको अर्घ्य देकर फिर सामान्य रूप से सबको दिया जाय। सहदेव जी ने जो प्रस्ताव किया है, वह सर्वथा उचित है। श्रीकृष्ण सामर्थ्य, पराक्रम, नीति, धर्म, कुशलता, युद्धचातुरी, रूप, गुण, सौन्दर्य, प्रभाव, ओज, तेज बल, वीर्य तथा अन्य सभी बातों में सबके श्रेष्ठ हैं। इस समस्त सभा की शोभा श्यामसुन्दर की समुपस्थिति के ही कारण है, अतः सर्वप्रथम भगवान् वासुदेव की ही पूजा हो, वे ही इसके सर्वोत्तम पात्र हैं।"

यह सुनकर ब्राह्मणों ने एक स्वर से कहा—"साधु साधु ! यह सर्वोत्तम बात है, श्रीकृष्ण की ही सर्व प्रथम पूजा होनी चाहिये।" जिन बीस सहस्र राजाओं को भगवान् ने जरासन्ध के

बन्दी गृह से छुड़ाया था, वे भी सब चिल्लाकर कहने लगे—"भगवान् की ही सर्व प्रथम पूजा होनी चाहिये। इस कोलाहल में कोई किसी की सुनता ही न था, जो राजा इस प्रस्ताव का विरोध करना चाहते थे, उनका बहुमत को देखकर इस कोलाहल में साहस ही न हुआ। वे चुपचाप अपने आसनों पर बैठे रहे। सर्व सम्मति समझ कर धर्मराज ने सहदेव से पूजा की समस्त सामग्री श्यामसुन्दर के सम्मुख रखने को कहा। पाँचों भाई एक स्थान पर जुट आये। द्रौपदी जी धर्मराज की बगल में ही बैठी थीं। आज हम अपने हृदय धन यदुनन्दनकी सबके सम्मुख श्रद्धा सहित पूजा करेंगे इस बात के स्मरण आते ही सबके सब रोमाञ्चित हो उठे। धर्मराज तो प्रेम में ऐसे विह्वल हो गये, कि उन्हें शरीर की भी सुधि नहीं रही। कुरुकुल के समस्त सम्बन्धी भगवान् की पूजा करने को एकत्रित हो गये थे। महाराज के मंत्री, पुरोहित सुहृद तथा अन्यान्य परिवार वाले भी बैठे थे। उस सभा में शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादिक लोकपाल अपने गणोंके साथ विराजमान थे, गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, यक्ष, राक्षस, मुनि, किन्नर पक्षी तथा सिद्धचारणादि सभी समुपस्थित थे। भगवान् की पूजा देखकर सभी प्रमुदित हो रहे थे। भाइयों की सहायता से धर्मराज ने प्रभुके पादों का प्रक्षालन किया और उस भुवन पावन पादोदक को प्रेम पूर्वक शिरपर चढ़ाया। फिर अर्घ्य आचमनीय, स्नानीय जल देकर यज्ञोपवीत सहित दो रेशमी पीताम्बर तथा बहुमूल्य आभूषण उन्हें अर्पण किये। चंदन, अक्षत, पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीप नैवेद्यादि से उनकी विधिवत् पूजा की। उस समय धर्मराज की विचित्र दशा थी। प्रेमके कारण वे अधीर हो रहे थे। कर थर थर काँप रहे थे। पुरोहित कुछ वस्तु उठाने को कहते कुछ उठा लेते। वे चंदन लगाने को कहते आप अक्षत छींटने लगते। वे श्यामसुन्दर के त्रिभुवन रूप को नयन भर के

तब भीष्म पितामहने धर्मराजको रोकते हुए कहा—"युधिष्ठिर भैया ! यह तुम्हारा व्यवहार शास्त्र सम्मत नहीं है, वृद्ध वही नहीं है जिसके बाल पक गये हों। जो उचित और युक्तियुक्त बात कहे वही वृद्ध है। बालक भी यदि धर्मयुक्त श्रेष्ठ बात कहता हो तो वह माह्य है इसके विपरीत यदि वृद्ध भी हो और वह धर्म विरुद्ध बात कहे, तो उसे कभी भी न मानना चाहिए। सहदेव ने युक्तियुक्त बात कही है। हमारे यहाँ अर्घ्य देना एक विशेष सम्मान का सूचक है। आचार्य, ऋत्विज, श्वसुर, आदि अपने श्रेष्ठ सम्बन्धी, स्नातक ब्रह्मचारी, मित्र और राजा ये छै श्रेष्ठ माने गये हैं। अपने घर पर ये आवें तो अर्घ्य देकर इनका सम्मान करना चाहिए। जो बहुत दिन अपने साथ रहे हों वे भी अर्घ्यके अधिकारी हो जाते हैं। इस सम्बन्ध से यज्ञ में आये हुए ये सभी राजा हमारे पूजनीय हैं। तुम्हें इन सब को अर्घ्य देकर सम्मानित करना चाहिये। अब विवाद का विषय इतना ही है, कि सर्वप्रथम अर्घ्य किसे दिया जाय। प्राथमिक पूजा का अधिकारी किसे माना जाय। सदाचार ऐसा है कि जो उपस्थित राजाओं में सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और श्रेष्ठ हों, सर्व प्रथम उनको अर्घ्य देकर फिर सामान्य रूप से सबको दिया जाय। सहदेव जी ने जो प्रस्ताव किया है, वह सर्वथा उचित है। श्रीकृष्ण सामर्थ्य, पराक्रम, नीति, धर्म, कुशलता, युद्धचातुरी, रूप, गुण, सौन्दर्य, प्रभाव, ओज, तेजबल, वीर्य तथा अन्य सभी बातों में सबके श्रेष्ठ हैं। इस समस्त सभा की शोभा श्यामसुन्दर की समुपस्थिति के ही कारण है, अतः सर्वप्रथम भगवान् वासुदेव की ही पूजा हो, वे ही इसके सर्वोत्तम पात्र हैं।"

यह सुनकर ब्राह्मणों ने एक स्वर से कहा—"साधु साधु ! यह सर्वोत्तम बात है, श्रीकृष्ण की ही सर्व प्रथम पूजा होनी चाहिये।" जिन बीस सहस्र राजाओं को भगवान् ने जरासन्ध के

बन्दी गृह से छुड़ाया था, वे भी सब चिल्लाकर कहने लगे— "भगवान् की ही सर्व प्रथम पूजा होनी चाहिये। इस कोलाहल में कोई किसी की सुनता ही न था, जो राजा इस प्रस्ताव का विरोध करना चाहते थे, उनका बहुमत को देखकर इस कोलाहल में साहस ही न हुआ। वे चुपचाप अपने आसनों पर बैठे रहे। सर्व सम्मति समझ कर धर्मराज ने सहदेव से पूजा की समस्त सामग्री श्यामसुन्दर के सम्मुख रखने को कहा। पाँचों भाई एक स्थान पर जुट आये। द्रौपदी जी धर्मराज की बगल में ही बैठी थीं। आज हम अपने हृदय धन यदुनन्दनकी सबके सम्मुख श्रद्धा सहित पूजा करेंगे इस बात के स्मरण आते ही सबके सब रोमाञ्चित हो उठे। धर्मराज तो प्रेम में ऐसे विह्वल हो गये, कि उन्हें शरीर की भी सुधि नहीं रही। कुरुकुल के समस्त सम्बन्धी भगवान् की पूजा करने को एकत्रित हो गये थे। महाराज के मंत्री, पुरोहित सुहृद तथा अन्यान्य परिवार वाले भी बैठे थे। उस सभा में शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादिक लोकपाल अपने गणोंके साथ विराजमान थे, गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, यक्ष, राक्षस, मुनि, किन्नर पक्षी तथा सिद्धचारणादि सभी समुपस्थित थे। भगवान की पूजा देखकर सभी प्रमुदित हो रहे थे। भाइयों की सहायता से धर्मराज ने प्रभुके पादों का प्रक्षालन किया और उस भुवन पावन पादोदक को प्रेम पूर्वक शिरपर चढ़ाया। फिर अर्घ्य आचमनीय, स्नानीय जल देकर यज्ञोपवीत सहित दो रेशमी पीताम्बर तथा बहुमूल्य आभूषण उन्हें अर्पण किये। चंदन, अक्षत, पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीप नैवेद्यादि से उनकी विधिवत् पूजा की। उस समय धर्मराज की विचित्र दशा थी। प्रेमके कारण वे अधीर हो रहे थे। थर थर थर काँप रहे थे। पुरोहित कुछ वस्तु उठाने को कहते कुछ उठा लेते। वे चंदन लगाने को कहते आप अक्षत छींटने लगते। वे श्यामसुन्दर के त्रिभुवन रूप को नयन भर के

निहारना चाहते थे, किन्तु नयनों में निरन्तर नीर भरा रहने से वे भगवान् के भली भाँति दर्शन भी न कर सके। उन्हें सभा की कोई भी वस्तु स्पष्ट दिखायी नहीं दे रही थी। सभा में सर्वत्र आनंदोल्लास छाया हुआ था। सभी गगन भेदी जय घोष कर रहे थे, आकाश से सुरगण कल्पवृक्ष के कुसुमों की अनवरत वृष्टि कर रहे थे। समस्त प्रजा के जन हाथ जोड़े नयनों से नेह-का नीर बहाते हुए, सम्पूर्ण शक्ति लगा कर बार बार "जय हो जय हो, धन्य धन्य, नमोनमः नमोनमः" ऐसे शब्द कर रहे थे, उस कोलाहल में किसी की कोई बात सुनता ही नहीं था। धर्म-राज आत्म विस्मृत बने यन्त्रवत् पूजा कर रहे थे। वे ऐसी कोई वस्तु देख ही नहीं रहे थे, जिसे भगवान् के अर्पण कर सके। और कुछ न देखकर उन्होंने अपना शरीर ही श्यामसुन्दर को अर्पित कर दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस सभा में और तो प्रायः सभी प्रसन्न थे सन्तुष्ट थे, किन्तु चेदि देश का राजा दमघोषका पुत्र शिशुपाल ईर्ष्या के कारण जल रहा था। वह श्रीकृष्ण का इतना सम्मान सहन नहीं कर सकता था। मारे क्रोध के उसके अंग अंग से चिनगारियाँ सी निकल रही थीं। उसके नेत्र लाल लाल हो रहे थे। रोष में भरकर वह दाँतों से ओठ काट रहा था, जब श्रीकृष्ण की पूजा हो ही रही थी, तभी उसे सहन न करके वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और सब को डाँट

कर शांत करता हुआ, भगवान् को खरी खोटी, जली कटी बातें सुनाने लगा। उन सब का वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बोले उठि सहदेव-सभा महँ श्याम विराजें।
नभ महँ उड़गन मध्य शरद शशिसम हरि भ्राजें॥
ये ही जग के पूज्य प्रथम पूजा अधिकारी।
अखिल भुवन पति सकल चराचर के दुख हारी॥
करयो समरथन पितामह, साधु साधु सबई कहत।
धरमराज के प्रेमवश, नेह नीर नयननि झरत॥

भगवान् के प्रति शिशुपाल की दुरुक्तियाँ

(११५२)

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठाद्,
उत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी,
संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीतः ॥ *
(श्री भा० १० स्कं० ७४ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

पांडव कृष्णा सहित सुनत अति भये सुखारे ।
पूजन प्रभु को करयो प्रेम तैं पाद पखारे ॥
पूजा विधि सब भूलि करें कछु कछू बतावें ।
कहि न सकें कछु बात कँपें कर हिय हुलसावें ॥
प्रभु पूजा शिशुपाल लखि, बोल्यो कृष्ण अयोग्य अति ।
जाति, वरन, कुल तैं रहित, कपटी कायर मंदगति ॥

मनुष्य क्या है, भावों का एक थैला है। इसके भीतर सद्-भाव और दुर्भाव ठूँस कर भरे हैं। कोई भी ऐसा नहीं जिसके

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार दमघोष का पुत्र शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के गुणों का तथा उनके सुयश का वर्णन सुनकर अपने आसन से उठ खड़ा हुआ । वह अत्यंत कुपित होकर, सभा में हाथ उठाकर तथा निर्भीक होकर भगवान् को अत्यंत कठोर वचन सुनाता हुआ कहने लगा ।"

भीतर सद्भाव, दुर्भाव दोनों न हों। सज्जनों के सद्भाव ही प्रकट होते हैं, दुर्भाव दबे रहते हैं। उसी प्रकार दुर्जनों के सद्-भाव दबे रहते हैं दुर्भाव प्रकट रहते हैं। हृदय के भाव मुखपर स्पष्ट झलकने लगते हैं। जैसी वस्तु सम्मुख आ जायगी मन उसी के भाव में भावित हो जायगा और उसकी झलक मुख मंड-ल पर छा जायगी। अपने अत्यंत प्यारे को देखते ही हृदय खिल उठता है, रोम रोम से आनन्द उमड़ने लगता है। आँखें चमकने लगती हैं और अनुराग टपकने लगता है। इसके विपरीत कोई अपने से द्वेष करने वाला, क्रूर, द्वेषी आ जाय तो हृदय में घृणा उत्पन्न हो जाती है। मुख मंडल रोप, घृणा और द्वेष से लाल हो जाता है। जो ईर्ष्यालु होते हैं, वे दूसरों की उन्नति देखकर जलने लगते हैं। उस समय वे बड़े ही वीभत्स बन जाते हैं। उनके अंग अंग से घृणा, द्वेष, हिंसा, क्रूरता निकलने लगती है उस समय उनके भीतर जितना द्वेष भरा रहता है, उसे वाणी द्वारा व्यक्त कर देते हैं। यह प्राणी भावों द्वारा ही जीवित है। मृतक संज्ञा उसी की है, जिसके मुख पर भावों का आना जाना बंद हो जाय। एक आदमी सुन्दर है, आकर्षक है, मनोहर है, किन्तु जब वह क्रोध में भर जाता है, तो उसकी आकृति कैसी भयंकर हो जाती है। हृदयमें काम भाव उत्पन्न होने पर स्त्री पुरुषों की जैसी चेष्टायें हो जाती हैं वे मुखसे स्पष्ट दिखायी देने लगती हैं। एक डाकू है, हत्यारा है, किन्तु वह भी जब अपनी प्रिया से मिलता है तो उसके हृदय में प्रेम जागृत हो जाता है। उसको बोल चाल में चितवन में बातों में प्रेमकी झलक स्पष्ट दिखायी देती है। ऐसे ही जिसके प्रति जन्म जात घृणा है, उसका मान, सम्मान अभ्युदय तथा उत्कर्ष देखकर शरीर विना अग्नि के भस्म होने लगता है। सामर्थ्य रहने पर उसका अनिष्ट करने के लिये सब प्रयत्न करता है, उसकी उचित अनुचित सब प्रकार से निंदा

करके द्वेषी पुरुष जन मत को अपनी ओर करने का प्रयत्न करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा भगवान् श्यामसुन्दर को अग्रपूजा होते देखकर सभी आनन्द में विभोर हो रहे थे। सभी का हृदय प्रफुल्लित हो रहा था। किन्तु उन राजाओं में एक भगवान् का तीन जन्म का शत्रु भी बैठा था। वह था चेदि देशके राजा दमघोषका पुत्र शिशुपाल। वैसे तो वह जब से पैदा हुआ था तभीसे भगवानसे द्वेष मानता था। अपराजित भगवान्को पराजित करनेके ही निमित्त वह महाबली जरासन्धका सेनापति बना था, किन्तु जबसे भगवान् उसकी भावी पत्नी रुक्मिणीजीको बल पूर्वक हर लाये और वह दुलहा बना रिक्तहस्त घर लौटा, तबसे उसका द्वेष पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। वह जिस किसी प्रकार भगवान् के अनिष्ट करने पर तुला था, किन्तु भगवान् का कोई अनिष्ट कर ही क्या सकता है। वे तो सबके परम इष्ट हैं। जरासन्ध के मारे जाने पर उसका उत्साह भंग हो गया, उसने धर्मराज के राजसूययज्ञ का अनिच्छा पूर्वक समर्थन किया और यज्ञ में सम्मिलित भी हुआ। उसे आशा थी, जरासन्ध के मरने पर अब संसार में सर्वश्रेष्ठ राजा मैं ही हूँ। राजसूययज्ञ में राजाओं के बीच में अग्रपूजा मेरी ही होगी, किन्तु पूजा के समय, उसने जो सोचा था उसके सर्वथा विपरीत ही हुआ। उसके शत्रु श्रीकृष्ण की प्रथम पूजा हुई। इससे उसके रोष का वारापार नहीं रहा। उसके रोम रोम से द्वेष की चिनगारियाँ निकलने लगीं। भगवान् की ऐसी महती पूजा, इतनी भारी प्रशंसा और प्रतिष्ठा देखकर द्वेष और ईर्ष्या वश उसका अन्तःकरण जलने लगा। वह क्रोध में भर कर अपने सिंहासन से उठकर खड़ा हो गया। उसने डाँटकर सबसे कहा—"चुप हो जाओ, कोई एक शब्द भी

मत बोलो, बाजे बंद करदो। मैं भरी सभा में राजाओं का इतना अपमान सहन नहीं कर सकता। जिस सभामें घोर अन्याय होता

है, उसमें असमर्थ आदमी को एक क्षण भी न बैठना चाहिये और समर्थ पुरुष को उस अन्यायका शक्ति भर विरोध करना

चाहिए। मैं सामर्थ्यवान् हूँ, शक्तिशाली हूँ, मैं इस अन्याय का विरोध करूँगा आशा है सब राजा मेरा समर्थन करेंगे।"

शिशुपाल की भयङ्कर दहाड़ को सुनकर सब के सब सन्न हो गये। बाजे बजने बंद हो गये, सबके सब उसी के मुख की ओर देखने लगे। सब सोचने लगे—"यह क्या कहेगा, किस बात का विरोध करेगा।" इतने में ही शिशुपाल सूखी हँसी हँसकर बोला —"सभा में समुपस्थित सभापति, सदस्य तथा अन्यान्य नृपति गण! आप मेरी बात को धैर्य के साथ सुनें मैं जो कहना चाहता हूँ, उस पर आप सब गंभीरता पूर्वक विचार करें। भावुकता वश, अथवा भय, लोभ और संकोच वश उसे यों ही टाल न दें।"

इस पर एक राजा ने कहा—"आप इतनी बड़ी भूमिका क्यों बाँध रहे हैं, जो बात कहनी हो उसे कहिये।"

सूखी हँसी हँसकर शिशुपाल ने कहा—"क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता। समय बड़ा बलवान् है। इसका पार पाना बड़ा कठिन है, कभी पैर की जूतियों की धूलि चढ़कर सिर पर चढ़ जाती है। कभी सुन्दर सुमन पैरों तले कुचल दिये जाते हैं। जिन का सम्मान होना चाहिये उन्हें कोई पूछता भी नहीं और जो सम्मान के सर्वथा अयोग्य हैं उनकी सबके सम्मुख निर्लज्जता पूर्वक पूजा हो रही है और कुलीन छत्रपति राजा भयवश इसका विरोध भी नहीं करते। टुक्म टुक्म एक दूसरे के मुख की ओर देख रहे हैं। इस सभा में बड़े बड़े वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध तथा कुल ऐश्वर्य वर्ण और प्रभाव वृद्ध पुरुष बैठे हुए हैं। किन्तु न जाने क्यों सबकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, कोई बोलता ही नहीं, अन्याय का विरोध करने की मानों किसी में सामर्थ्य नहीं, मैं देख रहा हूँ यहाँ पर आप जितने सभापति समुपस्थित हैं, सब के सब सत्पात्रों की परीक्षा करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप सब

जानते हैं कौन श्रेष्ठ है और कौन कनिष्ठ। इस यज्ञ में अग्रपूजा किसकी होनी चाहिये इस विषय में आप सब फिर से विचार करें। इस छोकरे सहदेव के कहने से ही भ्रम में न पड़ जायँ। मैं सहदेव के इस प्रस्ताव का पूर्ण शक्ति के सहित घोर विरोध करता हूँ। मैं इस कुल कलङ्क गोपाल कृष्णकी अग्रपूजा को कभी सहन नहीं कर सकता। जिस सभा में अपूज्य पुरुषों की पूजा होती है, तथा पूज्य पुरुषों का तिरस्कार होता है, उस सभा में अन्याय होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। युधिष्ठिर ने हम सब राजाओं को बुलाकर हमारा घोर अपमान किया है, हम ऐसी सभा में एक क्षण भी रहना नहीं चाहते। राजा लोगो! तुम्हें धिक्कार है. जो तुम छत्र चँवर धारी होकर भी अपने सम्मुख एक ग्वाले की पूजा देख रहे हो और उसका विरोध नहीं करते। ऐसी सभा से उठ चलो, ऐसे यज्ञ का विरोध करो, पांडवों के पक्ष के राजाओं को मार डालो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर और क्रोध में भर कर शिशुपाल अपने आसन से उठकर चल दिया। कुछ उसके अनुयायी राजा भी उठने लगे। धर्मराज ने देखा, यह तो यज्ञ में बड़ा भारी विघ्न हुआ। उन्होंने तुरन्त दौड़कर शिशुपाल को पकड़ लिया और बड़ी विनय के साथ बोले—"अरे. भैया! ऐसा मत करो। मैंने तो सबकी सम्मति से श्यामसुन्दर की पूजा की है। तुम भागते क्यों हो? बैठो, बात बताओ।"

क्रोध में भरकर खड़े खड़े ही शिशुपाल बोला—"युधिष्ठिर! तुम्हें सब लोग धर्मात्मा कहते हैं। मैं भी तुम से स्नेह करता हूँ। स्नेह न करता तो मैं तुम्हारे यज्ञ में आता ही क्यों? मैंने जो तुम्हें धन, रत्न तथा अन्यान्य वस्तुएँ दी हैं, वे डरकर या कर भेंट के रूप में थोड़े ही दी हैं। मैंने तो तुम्हारे शुभकाम में सहायता दी है। उसका परिणाम यह हुआ, कि तुम हम राजाओं का अप-

मान करने लगे। कृष्ण में क्या योग्यता है, जो तुम इसकी सर्व प्रथम पूजा कर रहे हो।

देखो, यह राजाओं की सभा है, इसमें तुम्हें यज्ञ मे आये समस्त राजाओं में से किसी सर्वश्रेष्ठ राजा की पूजा करनी थी। तुम धर्म पूर्वक बताओ, वृष्णि वंश में आजतक कोई छत्र चँवर धारी राजा हुआ है ? यह कुल तो महाराज ययाति के शाप से शापित है। इसलिये कृष्ण कोई राजा नहीं है ? फिर तुमने कृष्ण की पूजा क्यों की ? तुम कहो, हम तो श्रेष्ठ क्षत्रिय की पूजा करना चाहते हैं, तो यादवों की गणना तो क्षत्रियों मे है ही नहीं ये तो क्षत्रियों से वहिष्कृत हैं ? फिर तुमने कृष्ण की पूजा क्यों की ? तुम कहो, कि हमें तो अपने किसी श्रेष्ठ सम्बन्धी की पूजा करनी थी, तो इसके लिये वयोवृद्ध महाराज द्रुपद समुपस्थित हैं, इनकी पूजा करते, हमें कोई आपत्ति नहीं थी। ऐसे श्रेष्ठ सम्बन्धी को छोड़कर राज्यहीन कृष्ण को आपने अग्रपूजा का सम्मान क्यों दिया ? तुम कहो, कि द्रुपदसे तो हमारा पत्नी द्वारा सम्बन्ध है, हम तो मातृ कुलके सम्बन्ध से पूजा करना चाहते थे, तो तुम्हारी माता के भाई तुम्हारे मामा वसुदेवजी उपस्थित थे, उनकी पूजा करते, उनके भी श्वसुर उग्रसेन उपस्थित थे, उनकीही पूजा करते। मद्रदेश के महाराज शल्य उपस्थित थे उनकी पूजा करते। मामा के पुत्र की ही पूजा करनी थी, तो कृष्ण से बड़े बलदेव उपस्थित थे, उनकी पूजा करते। इन सब श्रेष्ठ सम्बन्धियोंकी पूजा न करके तुमने कृष्ण की पूजा क्यों की ?

तुम कहो, कि हमें तो जो अस्त्र शस्त्रों में सब से श्रेष्ठ हो, धनुर्वेदका आचार्य हो उसकी पूजा करनी है, तो ये द्रोणाचार्य जी कृपाचार्य जी, अश्वत्थामा जी तथा अन्यान्य धनुर्वेद विशारद आचार्य उपस्थित थे, इन सब का तिरस्कार करके आपने इस डरपोक भगोड़े कृष्ण की पूजा क्यों की ? आप कहें कि हमें तो

कुल वृद्ध की पूजा करनी थी, तो तुम्हारे ही कुल में सब से वृद्ध भीष्म पितामह समुपस्थित हैं। जिन्होंने रण में परशुराम जी को भी परास्त किया मृत्यु जिनके वश में हैं उनको छोड़कर कल के छोकरे कृष्ण की बड़े बड़े तपस्वी, विद्वान्, व्रती, निष्कल्मष, ब्रह्मनिष्ठ, लोकपालों से भी पूजित यज्ञ के बहुत से सदसस्पतियों का अतिक्रमण करके गुण हीन कृष्ण को आपने पूजाका पात्र कैसे समझा? तुम कहो कि हमें तो यज्ञ के ऋत्विज, यज्ञ के समस्त संभार जुटाने वाले की पूजा करनी थी, तो भगवान् व्यास बैठे थे, जो तुम्हारे पितामह हैं उनकी पूजा करते। तुम कहो हमें तो सबसे बली की पूजा करनी थी, तो बलदेव, दुर्योधन, कर्ण, तथा अश्वत्थामा जगत् विख्यात बलियों की उपस्थिति मे निर्बल कृष्ण को आपने इतना अधिक सम्मान क्यों दिया? मूर्धाभिषिक्त राजाओं के रहते राज्य चिन्हों से हीन कृष्ण की पूजा करना सब का तिरस्कार करना है।

मानलो तुम से भूल हो भी गयी, तुम सहदेव और भीष्म की बात में आ भी गये, तो इस कृष्ण को तो इस अनुचित पूजा को स्वीकार करना ही न चाहिये था। इसे कह देना चाहिये था, मैं इसका अधिकारी नहीं हूँ। इस पूजा से इसका मान नहीं हुआ अपमान ही हुआ है। जैसे नकटी स्त्री को नथ देना, नेत्रहीन को दर्पण दिखाना, नपुन्सक का विवाह करना, बाँह कटे को कंकण देना तथा बहरे को संगीत सुनाना उसका अपमान करना है। कृष्ण की अग्रपूजा करना उसी प्रकार असंगत है, जैसे यज्ञ की हवि को कौए को देना, देवता के निमित्त बनी खीर को कुत्ते को चटाना। अन्नकूट के लिये बने पदार्थों को गधे को खिलाना। तुम लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, भीष्म सठिया गये हैं, जिस सभा में ऐसा अन्याय अधर्म होता हो उसमें मैं एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहता।"

धर्मराज ने अत्यंत ही स्नेह के साथ शिशुपाल को प्रेम पूर्वक समझाते हुए कहा—"देखो, भैया ! शिशुपाल ! तुम्हें श्रीकृष्ण को न तो इस प्रकार कठोर वचन ही कहने चाहिए और न वयोवृद्ध श्रीभीष्म पितामह का इस प्रकार अपमान ही करना चाहिए। अच्छा, तुम ही सोचो यहाँ इस सभा में तुम से अवस्था में, पद प्रतिष्ठा में विद्या बुद्धि में बड़े बहुत से राजा हैं। किसी ने भी इस बात का विरोध नहीं किया। इसलिये तुम्हें भी विरोध करके हमारे यज्ञ में विघ्न न डालना चाहिए। आपको जो कहना हो, बैठ कर कहो, फिर जैसी सबकी सम्मति हो, उसे तुम को स्वीकार करलेना चाहिये।"

क्रोध में भरकर शिशुपाल ने कहा—"कोई भय वश भले ही विरोध न करे, किन्तु यह बात सब को बुरी लगी है। बुरी लगने की बात ही है, तुम्हें धन मद हो गया है। भीष्म भी तुम्हारी लल्लो चप्पो में लगे हैं। जहाँ ऐसा अन्याय, अधर्म, पाप, पक्षपात, तथा महापुरुषों का अपमान होता हो, वहाँ मैं एक क्षण भी रुकना नहीं चाहता। मैं शक्ति भर इसका विरोध करूँगा और तुम्हारे यज्ञ को पूरा न होने दूँगा।"

यह सुनकर भीष्म पितामह को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने क्रोध में भरकर धर्मराजसे कहा—"युधिष्ठिर ! तुम इस नीच की इतनी विनय क्यों कर रहे हो। यह तो दुष्ट है, इसे मैं जन्म से ही जानता हूँ, यह श्रीकृष्ण का द्वेषी है, निंदक है, अधम है, अभिमानी है, निर्लज्ज है। इसे जाने दो। जब यह बात सुनना ही नहीं चाहता तो इसकी जो इच्छा हो सो करे। इस गीदड़ के चले जाने से क्या हमारा यज्ञ पूरा न होगा। यदि यह बैठकर मेरी बात सुने तो मैं इसे बताऊँ, कि श्रीकृष्ण यज्ञ के ही स्वामी नहीं सम्पूर्ण चराचर विश्व के स्वामी हैं। यज्ञोंमें आगे पीछे, मध्य में तथा सब समय इनकी ही तो पूजा होती है।"

यह सुनकर शिशुपाल फिर अपने आसन पर बैठ गया और क्रोध में भरकर बोला—"इस बूढ़े ने ही सब गुड़ गोबर किया है। इसी ने धर्मराज की बुद्धि भ्रष्ट करदी है। यह इस अहीर के छोकरे को पर ब्रह्म बताता है। यदि यह बूढ़ा कृष्ण को ईश्वर मानता है, तो अपने घर में बैठकर मानता रहे। राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा, नीति, धर्म, सदाचार तथा शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है।"

भीष्म पितामह ने कहा—"तैंने यदि शास्त्रों को पढ़ा होता और वृद्ध जनों की सेवा की होती,तो तू ऐसी भूली भूली बातें कभी न करता। श्रीकृष्ण धर्म से नीति से सदाचार तथा शास्त्र से सभी प्रकार अग्रपूजा के अधिकारी हैं। उनकी ईश्वरता को छोड़ भी दें तो भी वे यहां उपस्थित समस्त राजाओं के गुरु हैं। ब्राह्मणों में विद्याके कारण श्रेष्ठता है। ब्राह्मण अवस्था में चाहे छोटा हो, किन्तु विद्या में बड़ा हो, तो वह वृद्धों का भी पूजनीय है। वैश्यों में बड़ाई धन के कारण मानी जाती है, जो धनी है वह बड़ा है, शूद्रों में बड़प्पन अवस्था के कारण माना गया है और क्षत्रियों में बड़ाई बल से होती है। जो सब से अधिक बली है क्षत्रियों में वही सर्वश्रेष्ठ है। जो क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय को युद्ध में हराकर छोड़ देता है, वह हारे हुए का गुरु होता है। आज पृथिवी का कोई क्षत्रिय कह दे वह युद्ध में श्रीकृष्ण से नहीं हारा है। यदि किसी को अपने बल का अभिमान हो तो वह अब भी श्रीकृष्ण के सम्मुख आ जाय। जब इन्होंने सब राजाओं को जीतकर छोड़ दिया है, तो ये सबके गुरु हैं और अग्रपूजा के सर्वोत्तम अधिकारी हैं। जिसे इनकी गुरुता मान्य न हो, वह प्रसन्नता पूर्वक हमारे यहाँ से चला जा सकता है और उसकी जो भी इच्छा हो, वह कर सकता है।"

यह सुनकर क्रोध में भरकर शिशुपाल बोला—"श्रीकृष्ण

कपटी है, उसने जरासन्ध को कपट से मरवा दिया है। श्री-कृष्ण भीरु है, वह जरासन्ध के भय से मथुरा छोड़कर परिवार सहित समुद्रके बीच में छिपा रहता है। मैं डंके की चोट पर कहता हूँ, श्रीकृष्ण राजसूय यज्ञ में अग्रपूजा का किसी भी प्रकार अधिकारी नहीं। यदि उसकी अग्रपूजा होगी, तो हम युद्ध करेंगे, लड़ेंगे यज्ञ को विध्वंस करेंगे, सब को मार डालेंगे, किन्तु कृष्ण की पूजा नहीं होने देंगे।"

भीष्म पितामह ने कहा—"हम किसी की गीदड़ भभकियों में आने वाले नहीं हैं। ये बन्दर घुड़कियाँ कहीं अन्यत्र दिखाना हमने श्रीकृष्ण का पूजन किसी उपकार के उपलक्ष्य में, डर कर, भूल से अथवा भ्रम वश नहीं किया है। हमने इन्हें सर्वश्रेष्ठ मान कर पूजा का सर्वोत्तम पात्र समझकर यह सम्मान दिया है। ये वीरता, विद्वत्ता, निपुणता, धन, बल, यश, श्री, ह्री, लज्जा, कीर्ति, नम्रता, धृति, तुष्टि, पुष्टि, बुद्धि, रूप, गुण तथा ज्ञान में सबसे अधिक श्रेष्ठ हैं। पूजा की सम्पूर्ण पात्रतायें इन एक में ही एक साथ विद्यमान् हैं। ये हमारे गुरु हैं, सगे सम्बन्धी हैं, स्नातक हैं, ऋत्विज हैं, राजा हैं, आचार्य हैं कहाँ तक कहें ये ही हमारे सर्वस्व हैं। हमारे ही नहीं तीनों लोकों के ये ईश्वर हैं। हम ने इनकी पूजा की है कर रहे हैं और जब तक जीवेंगे तब तक करते रहेंगे। हमने सब की सम्मति लेली है, यदि शिशुपाल को भगवान् की पूजा प्रिय नहीं है, तो उसे जो उचित जान पड़े निः-शंक होकर करे।"

इतना सुनते ही सहदेव आवेश में उठकर खड़े हो गये और गरज कर बोले—"श्रीकृष्ण हमारे गुरु, पिता, आचार्य, रक्षक तथा सर्वस्व हैं। जो राजा उनकी पूजा को सहन नहीं कर सकता उसके सिर पर हम अपना पैर रखते हैं। यदि किसी में बल हो, साहस हो तो हमारी चुनौती का उत्तर दे।"

यह सुनकर धर्मराज ने सहदेव को घुड़कते हुए कहा—"सहदेव ! भाई ! तुम्हारे बिना बोले भी काम चल सकता है। पितामह कह तो रहे हैं। भैया ! हम तो पितामह के अधीन हैं, हमें वे जैसी आज्ञा देंगे करेंगे।"

गरजकर पितामह बोले—"युधिष्ठिर ! तुम यह बार बार क्या अडंगा लगाते हो। सत्य बात तो कहनी ही चाहिये। सहदेव यथार्थ ही कह रहा है, उसे तुम मत रोको। तुम पूजा करो, जो कोई पूजा में विघ्न डालेगा उसे मैं अकेला देख लूँगा।"

यह सुनकर धर्मराज नीचा सिर करके फिर भगवान् की पूजा करने लगे। भगवान् निरपेक्ष भाव से चुप बैठे थे, वे न तो शिशुपाल की बात का कुछ उत्तर देते न भीष्म आदि को ही रोकते। वे पृथिवी पर बीच बीच में लकीर खींचते जाते थे। शिशुपाल क्रोध में भरा हुआ आपे से बाहर हो रहा था। वह निरन्तर भगवान् को गालियाँ दे रहा था। वह भीष्म को खरी खोटी कह कह कर भगवान् की निन्दा कर रहा था। वह कहता था—"भीष्म नपुंसक है, यह कृष्ण की भाटों की भाँति प्रशंसा कर रहा है, इसी ने पांडवों से श्रीकृष्णकी पूजा करायी है। अग्रपूजा की बात तो पृथक रही कृष्ण इस राज सभा में बैठने योग्य भी नहीं, यह वर्ण, आश्रम तथा कुल से बहिष्कृत है। यह धर्म की मर्यादा से रहित है, रण छोड़कर भागने वाला भगोड़ा है। स्वेच्छाचारी है, बैल (वृषभासुर) को मारने वाला है स्त्री (पूतना) को मारने वाला है, मन माना बर्ताव करने वाला है, इसका समस्त कुल शापित है, सत्पुरुषों की सभा में यह बैठने के अयोग्य है। इसके कुल के सब सुरापी हैं। यह और इसके कुल के लोग डाकू और लुटेर हैं। मथुरा जैसे ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित पवित्र देश को छोड़कर ये लोग डरकर भगकर समुद्र के बीच में रहते हैं। ये प्रजा को पीड़ा देते रहते हैं। कृष्ण छलिया है, बहुरूपिया है।

दास और नीच भगोड़ा समझकर जरासन्ध इससे नहीं लड़ा था, तब इसने छल, बल, कला, कौशल तथा अन्याय से उसे मरवा डाला। यदि यह भगवान् था सर्व समर्थ था, तो छिपकर क्यों गया ? इसने ब्राह्मणों का सा बनावटी वेष क्यों बनाया ? इसमें बल नहीं, वीर्य नहीं। यह पेटू है। गोवर्धन पूजा के समय यह बहुत अन्न खा गया था। इसी से इसे बड़ा अभिमान हो गया है। यह राजाओं में पूजा पाने के सर्वथा अयोग्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार शिशुपाल भगवान् को अनगिनती गालियाँ दे रहा था, किन्तु भगवान् उन सब गालियों को चुपचाप गिनते जाते थे। एक गाली देता तुरंत वे एक लकीर कर देते। वह भरी सभा में न तो लज्जित ही होता था न किसी का कुछ शील संकोच ही करता था। निरन्तर बकता ही जा रहा था क्यों कि उसका मङ्गल नष्ट हो रहा था। मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी। काल उसे प्रेरित कर रहा था। जो अत्यंत भगवद् भक्त राजा थे, वे शास्त्र के इस वचन को स्मरण करके कि जो पुरुष भगवान् तथा भगवद्भक्तों की निन्दा सुन कर वहाँ से दूर नहीं हट जाता, उसके भी शुभकर्म नष्ट हो जाते हैं और वह नीच गति को प्राप्त होता है।" वहाँ से कान मूँदकर उठकर अन्यत्र चले गये।

पांडवों से सहन न हुआ। वे भगवान् की ऐसी निन्दा सुनकर क्षुब्ध हुए। विशेष कर भीमसेन के तो रोम रोम से चिनगारियाँ सी निकलने लगीं। वे गदा लेकर शिशुपाल की ओर मारने दौड़े। तब भीष्म पितामह ने उठकर उन्हें पकड़ लिया और कहा —"भीम ! इसकी मृत्यु भगवान् के ही हाथ से है। तू इसे मत मार। कुछ ही क्षणों में तू इसे यहाँ मरा ही हुआ देखेगा। अब यह अपने आपे में नहीं है। यह अपने आप कुछ नहीं कह रहा है। काल रूप श्रीकृष्ण ही इसे ऐसा कहने के लिये प्रेरित कर

रहे हैं। जैसे सन्निपात में भरकर मनुष्य अंटसंट बकता है, वही दशा इसकी हो रही हैं। भगवान् वासुदेव सब जानते हैं, इसीलिये वे मौन हैं।"

इस पर शिशुपाल और भी अधिक कुपित हुआ और बोला—"मैं न तो कृष्णसे डरता हूँ, न पांडवोंसे मुझसे पांडव चाहें एक एक करके लड़लें या सब मिलकर युद्ध करलें मैं सब प्रकार से लड़ने को तैयार हूँ। भीष्म! तुम इस भीम को छोड़ दो दो। इसे अपने बल का बड़ा अभिमान है। आज मैं इसके अभिमान का नाश कर दूँगा।"

सूखी हँसी हँसकर भीष्म पितामह ने कहा—"शिशुपाल! क्या करूँ भगवान् वासुदेव मुझे रोक रहे हैं, नहीं तो मैं तुझे अभी बता देता। तेरी जो यह जीभ कतरनी की भाँति चल रही है उसे अभी काट लेता। सबके सम्मुख तेरा सिर धड़ से पृथक होकर उछलता। अच्छी बात है, तू अभी जितना चाहे बड़ बड़ाले।"

इस पर शिशुपाल ने कहा—"कृष्ण कपटी है चोर है ठग है, इसकी पूजा मैं नहीं होने दूँगा, कभी भी न होने दूँगा। ये सभी राजा, मेरे पक्ष में हैं, इन सबका मैं सेनापति बनकर युद्ध करूँगा।"

यह सुनकर अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, मत्स्य देश के राजा केकय तथा सृञ्जय देशीय राजा अपने अपने अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध के लिये खड़े हो गये। वे सब के सब शिशुपाल को मार डालना चाहते थे। किन्तु बीच में ही खड़े होकर भगवान् ने सब को रोक दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब जैसे भगवान् शिशुपाल का वध करेंगे, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा ।"

छप्पय

जनम भूमि तजि भग्यो ठग्यो मगधेश्वर छल तैं।
कोई जीत्यो नहीं भूमिपति जाने बल तैं॥
क्षत्रियकुल तैं हीन दीन अति जाकूँ प्यारे।
धनी न मानी जाहि निहारैं वैभव वारे॥
अड बड बहुकाल तक, बकत रह्यो शिशुपाल जब।
दौरे पाडव हनन हित, रोकि कहैं घनश्याम तब॥

—※—

शिशुपाल-वध

(११५३)

तावदुत्थाय भगवान्स्वान्निवार्य स्वयं रुषा।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः ॥ *
(श्रीभा० १० स्क० ७४ अ० ४३ श्लो०

छप्पय

बूआ मेरी श्रुतश्रवाको सुत यह पापी।
तीन नयन भुज चारि सहित जनम्यो संतापी॥
तब नभवानी भई गोद जाकी महँ जावे।
गिरें नयन कर वही जाहि परलोक पठावे॥
मेरी गोदी महँ गिरे, करी विनय बूआ बहुत।
दयो ताहि वर दयानिधि, क्षमा करहुँ अपराध शत॥

जिसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि जीव अवश है, वह प्रभु प्रेरणासे ही समस्त चेष्टायें करता है, तो फिर वह दुखमें सुखमें, हानिमें लाभमें, शुभमें अशुभमें, पुण्यमें पापमें, जयमें पराजयमें सदा सम बना रहता है। फिर उसे किसी बातसे उद्वेग नहीं होता। जब यह ध्रुव सत्य है कि प्रभुकी इच्छाके बिना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उसी समय तुरन्त उठकर भगवान्ने अपने सुहृदोंको रोका और अपने ऊपर आक्रमण करने वाले शिशुपालके शिरको तीक्ष्ण धारवाले अपने चक्रसे स्वयं ही काट दिया।"

एक पत्ता भी नहीं हिलता, तब कोई निन्दा और स्तुति स्वतंत्र कैसे हो सकता है। भगवान् जिससे निन्दा कराते हैं, वह अवश होकर निन्दा करता है, जिससे स्तुति कराते हैं, वह स्तुति करता है। भगवान्के लिये तो निन्दा स्तुति समान हैं। वे अपने वन्दना करने वालोंकोभी परम पद देते हैं और निन्दकोंको भी वही गति देते हैं। उनसे किसी प्रकार सम्बन्ध भर हो जाय, फिर तो बेडा पार ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पांडवोंके पक्षके राजाओंने देखा कि शिशुपाल भगवान्को ऐसी बुरी बुरी गालियाँ दे रहा है, जिनमेंसे एकको ही सुनकर उसका वध किया जा सकता था, किन्तु भगवान् कुछ बोलते ही नहीं। तब वे सब उसे मारने दौड़े। भगवानने सबको रोककर कहा—"भाइयो! आप इस दुष्टको मारें नहीं। मैं अबतक अपनी बूआको दिये हुए वरके कारण इसे क्षमा करता रहा। किन्तु अब तो इसका अपराध पराकाष्ठाको पहुँच चुका है।"

इसपर धर्मराजने कहा—"प्रभो! आपने अपनी बूआको क्या वर दिया था, आप अबतक चुपचाप क्यों बैठे थे, आपने अभी तक एक शब्द भी क्यों नहीं कहा, आप पृथिवी पर लकीर क्यों कर रहे थे। कृपया हमारी इन बातोंका प्रथम उत्तर दें, तब शिशुपालको दण्ड दें।"

यह सुनकर भगवान् सबको सुनाते हुए मेघ गम्भीर वाणीमें धर्मराज युधिष्ठिरको सम्बोधन करके कहने लगे—"धर्मराज! मेरे पाँच बूआ हैं। एक बूआके तो आप लड़के हैं। एक मेरी श्रुतश्रवा नामकी बूआका विवाह चेदि देशके महाराज दमघोषके साथ हुआ। उसीके उदरसे यह दुष्ट शिशुपाल पैदा हुआ। यह मेरा फुफेरा भाई है। जब यह पैदा हुआ था, तो इसके चार हाथ थे और तीन नेत्र। पैदा होते ही यह बालकोंकी भाँति रोया

हीं गधेकी भाँति रेंका था। इसे मेरे देखकर फूफा फूफी तथा
अन्यान्य लोग बड़े दुखी हुए। तब आकाशवाणी हुई कि यह
बड़ा बली शूरवीर और श्रीमान् होगा। आप लोग इससे डरें
नहीं। यह इतना बली होगा कि इसे महाकालके अतिरिक्त कोई
भी पुरुष मार नहीं सकता। इसे रमने वाला पृथिवीपर पैदा भी
हो चुका है।

यह सुनकर मेरी बूआ हाथ जोड़कर विनीत भावसे
बोलीं—"जिस देवने हमें यह बात बताई है, वह कृपा करके यह
भी बतावे कि इसकी मृत्यु किसके हाथसे होगी।"

तब फिर आकाश वाणी हुई—"जिसकी गोदमें जानेसे इस-
का तीसरा नेत्र तथा दो हाथ गिर जायँ वही इसे मारेगा।"

यह सुनकर चेदिराज महाराज दमघोषने सब राजाओंको
बुलाया। ऐसे अद्भुत बालकका जन्म सुनकर देश देशान्तरोंसे
नित्य ही बहुतसे राजा इसे देखने आने लगे। राजा सबकी गोद-
में उस बालकको बिठाते, किन्तु किसीकी भी गोदमें जानेपर इस-
के हाथ और नेत्र नहीं गिरे। हमने भी यह बात सुनी कि हमारी
बूआके एक ऐसा अद्भुत बालक हुआ है, तो हम और बलदाऊ
जी दोनों इसे देखने गये। मेरी बूआने मेरी गोदीमें भी इसे
बैठाया। मेरी गोदीमें आते ही इसका एक नेत्र तथा दोनों हाथ गिर
गये। यह देखकर मेरी बूआ बहुत डरी और उसने दीनताके
साथ कहा —"कृष्ण! तुम दीनोंके रक्षक हो, भयभीतोंके भय-
को हरने वाले हो, मेरे ऊपर कृपा रखना। मुझे एक वर दो।"

मैंने कहा—"बूआ! तुम कैसी बातें कर रही हो, हम तो
तुम्हारे बच्चे हैं, तुम मुझसे जो कहोगी, वही मैं करूँगा।"

बूआने कहा—"भैया, मेरे इस बच्चेके ऊपर कृपा करना
यह कोई अपराध भी करे तो उसे क्षमा कर देना। इसके अपरा-
धों ओर ध्यान न देना।"

मैंने कहा—" बूआ ! तुम एक अपराधकी बात कहती हो यह मारने योग्य सौ भी अपराध करेगा, तो मैं इसे क्षमा क दूँगा। यदि सौ से अधिक इसने अपराध किये, तो फिर इसे क्षमा न करूँगा।"

बूआने कहा—" बस भैया ! तुमसे यही चाहती हूँ, तुम इसके सौ अपराधोंको क्षमा कर देना।"

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र धर्मराज युधिष्ठिरसे कह रहे हैं—' राजन् ! यही कारण है, मैं अब तक इसकी सब गालियोंको चुपचाप सुनता रहा, मैंने इसकी एक बातका भी न बुरा माना न विरोध ही किया। मैं इसकी प्रत्येक गालीपर एक लकीर करता रहा। आपमेंसे कोई भी आकर इन लकीरोंको गिन ले, ये सौ से अधिक हो गयीं। अब मैं अपनी बूआसे की हुई प्रतिज्ञाके बन्धनमें नहीं हूँ। अब मैं इसे मार दूँ, तो कोई मुझे दोष मत देना।"

यह सुनकर शिशुपाल खिलखिला कर हँस पड़ा और हँसते हँसते बोला—" कृष्ण ! तू बड़ा बातूनी है। बातें बनाना तो ऐसी जानता है कि भले भले लोग तेरी बातोंमें आ जाते हैं। वरदानकी व्यर्थ आड़ लेकर तो अपनी कायरताको सिद्ध क्यों कर रहा है। मुझे तेरी कृपाकी आवश्यकता नहीं। यदि तुझमें बल वीर्य है, तो आजा, मेरे तेरे दो दो हाथ हो जायँ। यह कह कर वह भगवान्‌के ऊपर प्रहार करने दौड़ा।"

सूतजी कहते हैं—" मुनियो ! शिशुपालकी ऐसी अभिमान पूर्ण और नीचतासे भरी बातोंको सुनकर तथा उसे अपनी ओर आक्रमणके लिये आते देखकर भगवान्‌ने उसके ऊपर अपना तीक्ष्ण धारवाला सुदर्शन चक्र छोड़ा। उस चक्रके लगते ही उसका सिर धड़से पृथक् हो गया। सबने आश्चर्य और विस्मय-

के साथ देखा, शिशुपालके शरीरसे निकला हुआ तेज भगवान्‌के श्री अङ्गमें इसी प्रकार समा गया, जैसे बिजली भूमिमें समा

जाती है। क्षुद्र नदियाँ महानदीमें समा जाती हैं और महानदी समुद्रमें समा जाती है। "

शिशुपालके मरते ही वहाँ बड़ा भारी कोलाहल हुआ, ज राजा शिशुपालका पक्ष ले रहे थे, वे सब शान्त हो गये, क दृष्टि बचाकर बहुतसे वहाँसे खिसक गये। कुछ जो भीतर ह भीतर शिशुपालकी ओर थे, वे भी अपनेको पांडवोंका हितैषी सिद्ध करनेके लिये बार बार कहने लगे—"यह शिशुपाल बड़ा धूर्त था, भगवान् वासुदेवने इसे मारकर बड़ा ही उत्तम कार्य किया। यह यज्ञमें विघ्न करने वाला था।"

यह सुनकर शौनकजीने कहा—"सूतजी! भगवानसे इतन द्वेष करने वाले शिशुपालकी सायुज्य मुक्ति कैसे हुई। क्यों इसक तेज भगवानके श्रीअङ्गमें मिल गया?"

सूतजीने कहा—"महाराज! यह तो भगवान्का द्वारपाल था। क्रुद्ध होकर सनकादि मुनियोंने जय विजयको असुर होनेक शाप दिया था और फिर कह दिया था, तीसरे जन्ममें भगवान के हाथों मरकर फिर तुम वैकुण्ठमें भगवानके पूर्ववत् पार्षद ब जाओगे। वे जय विजय प्रथम जन्ममें हिरण्याक्ष हिरण्यकशि हुए, दूसरे जन्ममें रावण कुम्भकर्ण हुए और तीसरे जन्ममें वे ह शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए। शिशुपालको तो यहाँ धर्मराज राजसूय यज्ञमें मारकर भगवान्ने मुक्ति दी, दन्तवक्त्रके वधक वृत्तान्त आगे सुनाऊँगा।"

इस प्रकार बड़ी धूम धामसे शिशुपालके बलिके अनन्त धर्मराजका राजसूययज्ञ पूर्ण हुआ। उस यज्ञको देखकर सभी प्रस हुए। केवल दुर्योधनको ही उसे देखकर अत्यंत दुःख हुआ। महा

राजने यज्ञान्त अवभृत स्नान भी बड़े उत्साहके साथ किया।"

इस पर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! हमें धर्मराजके राजसूय यज्ञके अवभृत स्नानका भी वृत्तान्त सुनावें और इस बातको भी बतावें कि दुर्योधनको अपने भाईके ही इस वैभवशाली यज्ञको देखकर दुःख क्यों हुआ। उसका तो धर्मराजने सबसे अधिक सम्मान किया था। एक प्रकारसे उसे ही सम्राट् मान लिया था। बड़े बड़े राजा उसे ही भेंट देकर प्रणाम करते, फिर उसे क्लेष क्यों हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी अच्छी बातें भी बुरी लगती हैं। उसके अभ्युदयसे भी क्लेश होता है, अच्छी बात है, अब मैं आपको उसी कथाको सुनाता हूँ।"

छप्पय

तब तैं हौं गिनि रह्यो भये अपराध अधिक शत।
अब हौं मारूँ जाइ होहि जामें सबको हित॥
यों कहिकें घनश्याम सुदरशन चक्र चलायो।
करि धड तैं सिर पृथक् सभा महँ काटि गिरायो॥
तेज निकसि शिशुपाल तन-तैं हरि तन महँ मिलि गयो।
तीन जनम महँ द्वेष तैं, भजि पुनि प्रभु पार्षद भयो॥

धर्मराजके राजसूयका अवभृत स्नान

(११५४)

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेसु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः ।
चैद्येच सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥ *

(श्रीभा० १० स्क० ७५ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

चेदिराज बलि चढ़ी भयो मख पूरो तब हीं ।
पाइ मान सन्तुष्ट भये आगत नृप सब हीं ॥
दई दच्छिना विपुल कनक, धन, रतन लुटाये ।
सब सुर, नर गन्धर्व निरखि मख परम सिहाये ॥
पूरन मख करि हरि सहित, धरमराज अति मुदित मन ।
सङ्ग लिये नर नारि सब, चले न्हान अवभृत करन ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—" राजन्! धर्मराजके यज्ञमें जब ऋत्विक्, सदस्य तथा बहुज्ञ पुरुषोंका एवं अपने बन्धु बान्धवोंका सुमधुर वचनों द्वारा तथा नाना प्रकारकी सामग्री एवं दक्षिणादि द्वारा भली प्रकार स्वागत सत्कार हो चुका और चेदि देशका शिशुपाल जब शरीर त्याग कर सात्वतपति भगवान् श्रीकृष्णके चरण कमलोंमें प्रविष्ट हो चुका, तब महाराज युधिष्ठिरने श्री गङ्गाजीमें यज्ञान्त अवभृत स्नान किया।"

मनुष्यमें और पशुओं में इतना ही अन्तर है, कि पशु अपने लिये नयी मर्यादा बना नहीं सकते पिछली मर्यादा को स्वतः तोड़ नहीं सकते। मनुष्य अपने लिये नई समाजिक धार्मिक मर्यादा देश कालके अनुसार स्थिर कर सकता है, प्राचीन परि-पाटियों का उल्लङ्घन भी कर सकता है। जो बात किसी समय अविहित है, वही दूसरे समय विहित हो जाती है, होलिका के दिन श्वपच स्पर्श विहित है। कुलवती नव वधुओं के लिये सामान्य तथा परदेमें रहने का नियम है किन्तु विवाह के समय, मृतकादि शोक के समय, पर्व और उत्सवों के समय यह नियम शिथिल हो जाता है, वे सबके सम्मुख निकलती हैं। उत्सवपर्वों पर होली के समय तथा अन्यान्य मंगल कार्यों में सर-सता का प्रवाह स्त्रियों के ही द्वारा बहता है। वे अपने देवरों के साथ सुंदर सरस क्रीड़ा करके स्वयं भी प्रसन्न होती हैं तथा समस्त दर्शकों के हृदयमें भी एक प्रकारकी सुखद सरसता का संचार करती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज युधिष्ठिर का राज-सूय यज्ञ बड़ी धूम धाम से सम्पन्न हो गया। अब ब्राह्मणादि भोजन कराके धर्मराज बड़े ठाठ बाठ से यज्ञ का अवभृत स्नान करने के निमित्त सदल बल भगवती भागीरथी के तट पर चले आगे आगे महाराज द्रौपदीजी के साथ रथमें बैठे चल रहे थे, सैकड़ों राजागण उन्हें उसी प्रकार घेर कर चल रहे थे, जिस प्रकार देवेन्द्र को घेरकर सुरगण चलते हैं। यदु, सृञ्जय, काम्बोज कुरु कोशल तथा अन्यान्य देशके राजा सज धज कर धर्म राजका अनुगमन कर रहे थे। राजाओं के मणिमय मुकुट सूर्य के प्रकाशमें चमक रहे थे, उनके कंठोंमें पड़े सुवर्ण और मोतियों के हार दमक रहे थे। रथ, हाथी, घोड़ा और पैदल चलनेवाली सेनाओं से बड़ा कोलाहल हो रहा था। सब से आगे आगे

मृदङ्ग, शङ्ख पणव, ढोल, आनक तथा गोमुख आदि सैकड़ों प्रकार के बाजे बजाने वाले चल रहे थे। उनके पीछे नृत्य करती हुई नर्तकियाँ चल रहीं थी। उनके पीछे मुंड के झुण्ड बाजे बजाने वाले तथा गीत गाने वाले गवैये चल रहे थे। उनके वीणा, वेणु तथा मंजीर आदि मधुर वाद्यों की मधुर मधुर ध्वनि हृदयमें एक प्रकार की सरसता उत्पन्न कर रही थी। वेदज्ञ ब्राह्मण सस्वर वेद पाठ कर रहे थे। ऋत्विज, पुरोहित, ऋषि मुनि तथा राजाओं से घिरे धर्मराज बड़े उत्साहसे चल रहे थे। उनकी बगलमें वनमाली भगवान वासुदेव बैठे थे। धर्मराज के चारो छोटे भाई सेवामें समुपस्थित थे। इस प्रकार नगर से निकल कर सब बड़े उत्साह से गंगाजी के तट पर आये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ शिविकाओं और रथों पर चढ़कर तथा अस्त्र शस्त्र धारी सैनिकों से घिर कर गंगातट पर आईं। पांडवों की सभी पत्नियाँ तथा अन्यान्य राजाओं की पत्नियाँ चंदन, माला वस्त्र तथा अमूल्य आभूषणों से अलङ्कृत होकर बड़े आह्लाद और उत्साह के साथ यज्ञान्त अवभृत स्नान में सम्मिलित होनेके निमित्त आईं थीं।

गंगा किनारे पर पहुँच कर सबने मृत्तिका, पंचगव्य, अपामार्ग, दूर्वा,कुश, यज्ञभस्मादिसे विधिवत स्नान किया। स्नानानन्तर क्रीड़ा प्रारम्भ हुई। अवभृत स्नान में होलिकाकी भाँति उत्सव मनाया जाता है। हँसी विनोद की कहने न कहने योग्य बातें कही जाती हैं। एक दूसरे के ऊपर जल, तेल, दूध, दही, केशरकुंकुम की कीच तथा अन्यान्य वस्तुएँ फेंकते हैं। स्त्रियों से जिनका जैसा हँसी विनोद का सम्बन्ध होता है, वैसा ही आपस में बर्ताव करते हैं, उनके ऊपर जल छिड़ते हैं, परस्पर में होली खेलते हैं।

द्रौपदी के साथ गाँठ जोड़कर जब धर्मराज स्नान कर रहे थे, तब उनके और भी भाई अपनी अपनी स्त्रियों के साथ गाँठ बाँधे उनके पीछे खड़े थे। उस समय श्यामसुन्दर खिसक गये थे। धर्मराज ने चारों ओर देखकर कहा—"वासुदेव कहाँ गये उनके बिना अवभृत स्नान कैसे हो सकता है।" कुछ लोगों ने बताया श्यामसुन्दर तो रथ में बैठे हैं। तुरन्त अर्जुन दौड़कर गये और उन्हें पकड़ लाये। वे मना ही करते रहे, किन्तु वे कब मानने वाले थे। हँसकर धर्मराज ने कहा—"श्यामसुन्दर! तुम्हारे छिपने की बानि अभी तक जाती नहीं। भला, तुम्हारे बिना यहाँ क्या हो सकता है। तुम्हारे बिना मैं स्नान कैसे कर सकता हूँ। तुम मेरे सामने रहो।"

हँसकर अर्जुनने कहा—"महाराज! अकेले कैसे रहेंगे, गृहस्थी को अकेले तो कोई कर्म करने का अधिकार नहीं है। जैसे आप गाँठ बाँधकर स्नान कर रहे हैं, वैसे ये भी करें।"

इसपर हँसते हुए भीमसेन बोले—"इनकी एक पत्नी हो तो गाँठ बाँधे सोलह सहस्र एक सौ आठों से गाँठ कैसे बाँधोगे। पीताम्बर में गाँठ ही गाँठ हो जायँगी।"

सहदेव बोले—"महाराज! इसका उपाय तो मैं जानता हूँ। सोलह सहस्र एक सौ आठ कलावे के टुकड़े ले लिये जाँय उनके छोरपर एक गाँठ बाँधकर श्यामसुन्दर के पीताम्बर में बाँध दी जायँ दूसरी ओर जो सोलह सहस्र एक सौ आठ पूँछ सी लटकती रहें उनमें एक एक में सब रानियों की साड़ियों को बाँध दी जाय।"

यह सुनकर हँसती हुई द्रौपदी बोली—"तब तो सुभद्रा बहिन लाभ में रहेंगी। सबसे पृथक् पृथक् गाँठ बँधाई लेंगी।"

इतने में ही अर्जुन कलावे की गड्डियों को उठालाये और श्यामसुन्दर के पीताम्बर में बाँध ही तो दीं। तब तक द्रौपदी

बोलीं—"तुम क्या कर रहे हो, बाँधने का काम तो सुभद्रा बहिन का है।"

हँसकर अर्जुन बोले—"एक ओर मैं बाँधे देता हूँ दूसरी ओर से सुभद्रा बाँध देगी।"

भीमसेन श्यामसुन्दर को पकड़े हुए थे धर्मराज मुसकरा रहे थे। अन्य राजागण ठहाका मार कर हँस रहे थे। सुभद्रा अपनी पतली पतली उँगलियों से रानियों की साड़ियों में गाँठे बाँध रही थीं। रानियाँ हँस रही थीं सकुचाकर मुँह छिपा रही थीं। कुछ पीछे हटतीं थी नकुल सहदेव उन्हें पकड़ पकड़कर आगे कर रहे थे। सरसता की धारा बह रही थी। दूध, दही घृत, हरिद्रामिश्रित जल, तथा अन्यान्य रसों के लाखों भरे हुए घड़े रखे थे। चंदन केशर कस्तूरी की कीच परातों में भरी रखी थी। धर्मराज की पत्नियोंने अपने देवर श्रीकृष्णचन्द्र के ऊपर रस फेंकना आरम्भ किया। सबने उन्हें चारों ओर से घेर लिया। श्रीकृष्ण की पत्नियों ने भी जो अपने सम्बन्धमें देवर थे उनको घेर लिया। अबतो श्यामसुन्दरने भी फैंट बाँध ली। ये तो रस रूप ही थे। इन्होंने पिचकारियों में रंग भर भर कर सब स्त्रियों को भिगो दिया। उनके महीन वस्त्र शरीरों पर चिपक गये जिससे उनके अंग प्रत्यङ्ग सब दिखाई दे रहे थे बार बार श्रीकृष्ण के ऊपर जलउलीचने से उनके केशों के जूड़े में लगी, मालती मल्लिकाकी मालायें गिरने लगीं, उनके केश पाश खुल गये। सबने मिलकर श्यामसुन्दरको विवश कर दिया, हरा दिया। इनका नाम तो अजित है, किन्तु यहाँ आकर ये हार जाते हैं।

दूसरे राजागण भी वाराङ्गनाओं के ऊपर, तैल, गोरस, चंदन, हल्दी तथा गाढ़ी केशर की कीच फेंकने लगे। और उन्हें उनसे अनुलिप्त करने लगे। वे भी इन सबके शरीरों पर केशर चन्दन मलने लगीं और उन्हें गंगाजल से भिगोने लगीं।

रानियाँ लज्जा पूर्वक मुसकराती हुई प्रफुल्लवदन से श्रीकृष्ण और उनके मित्रों बन्धु बान्धवों को छेड़ने लगीं। उस सरस क्रीड़ाको देखकर मलिन बुद्धि वालों के मनमें क्षोभ उत्पन्न हो रहा था और अमल विमल मति वाले मनीषी इसे माधव की मोहिनी माया समझ कर मुदित हो रहे थे। इस प्रकार बड़ी देर तक क्रीड़ा होती रही।

क्रीड़ाके अनन्तर ऋत्विजोंने धर्मराज युधिष्ठिर से पत्नी संयाज नामक यज्ञ और अवभृत स्नानके समस्त साङ्गोपाङ्ग कर्म कराये। तदनन्तर आचमन कराके फिर अंतिम स्नान कराया। तब सबने बाहर आकर वस्त्र बदले। उस समय बाजे बजाने वाले उल्लास के साथ गंगातट पर खड़े हुए मधुर मधुर स्वर में बीन आदि बाजे बजा रहे थे, उनकी तालमें ताल मिलाकर आकाशमें देवताभी दुन्दुभि आदि स्वर्गीय बाजों को बजा रहे थे। आकाश से देवता पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे। पृथिवी पर ब्राह्मण ऋषि मुनि तथा अन्यान्य प्रजाके पुरुष सार्वभौम महाराज युधिष्ठिर के ऊपर पुष्पोंकी वृष्टि कर रहे थे। महाराजके स्नान करने के अनन्तर सभी वर्ण के लोगों ने गंगाजीमें स्नान किया। क्यों कि अवभृत स्नानमें सम्मिलित होकर जो स्नान करता है, वह चाहे महापातकी भी क्यों न हो, उसका पातक छूट जाता है। वह निष्पाप हो जाता है, अवभृत स्नानमें सम्मिलित होनेका बड़ा पुण्य बताया है। स्नानानन्तर धर्मराज अपनी पत्नियों सहित सुन्दर सुवर्ण मंडित दिव्य रथपर सवार हुए। उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों ताराओंके मध्यमें शरदका पूर्ण चन्द्रमा विराजमान हो, सहस्रों राजा उनकी उपासना कर रहे थे। जब उन्होंने रेशमी वस्त्र और आभूषणों को धारण किया, तब प्रसन्नता पूर्वक उन्होंने ऋत्विक सदस्य तथा अन्यान्य ब्राह्मणों को बहुतसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण देकर उनका सत्कार किया। तदन-

न्तर अपने सगे सम्बन्धियों को, सुहृद, मित्र तथा कुल परिवार वालों को और अन्य भी विद्योपजीवी पुरुषों का सम्मान किया।

अवभृत स्नान करते समय किसी का मुख काला हो गय था, कोई हल्दी में सना था। किसी के मुखपर दही पुता था, कोई कीचमें ही सना था, किन्तु स्नान के अनन्तर सब दर्शनीय हो गये। सभी सुन्दर सुहावने बहुमूल्य अँगरखी दुपट्टा, पगड़ी मणिमय मुकुट धारण किये हुए थे। सबके कानों में कुन्डल हिल रहे थे और सब के कंठों में सुन्दर मालायें तथा बहुमूल्य हार पड़े हुए थे। स्त्रियाँ भी नये वस्त्राभूषणों को पहिनकर सोलहू शृङ्गार करके कंकण किंकिणि तथा कमर की कनक करधनी की छम्म छम्म से दशों दिशाओं को गुञ्जरित सी कर रही थीं। उस समय महाराजाने बहुत सा धन लुटाया। याचकों की इच्छायें पूर्ण कीं। सवारी जैसे आई थी वैसे ही बड़े आनन्द के साथ इन्द्रप्रस्थ में पहुँच गयी।

यज्ञमें आये हुए अतिथियों को इन्द्रप्रस्थ में रहते रहते वर्षों हो गये थे। यज्ञकी समाप्ति के अनन्तर वे सब अपने अपने घरों को जाने के लिये अत्यंत ही उत्सुक थे। अतः धर्मराज से अनुमति लेकर ऋत्विक् सदस्य तथा अन्यान्य यज्ञको देखने आने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने घरों को चले गये। सब राजागण भी जाने का आग्रह करने लगे धर्मराजने बड़े सम्मानके साथ उन्हें विदा किया। अपने भाइयों और सगे सम्बन्धियों को उन्हें पहुँचानेके निमित्त उनके राज्य की सीमातक भेजा। इस प्रकार सबको विदा करके धर्मराज

उदास से हो गये। बेटी को विदा करने के अनन्तर तथा उत्सव के पश्चात् उदासी सी छा ही जाती है। उसी समय श्यामसुन्दर ने सकुचाते हुए कहा—"धर्मराज! मेरी इच्छा तो नहीं होती है, कि आप सबको छोड़कर कहीं जाऊँ, किन्तु द्वारका में भी बहुत से कार्य हैं, मुझे भी अब जाने की अनुमति दे दें।"

यह सुनकर धर्मराज के नयनों में जल भर आया। वे अवरुद्ध कंठसे कहने लगे—"वासुदेव! आपके बिनातो यहाँ सूना हो जायगा। आजकल सब सगे सम्बन्धी तथा स्नेही राजाओं के चले जाने से मेरा चित्त उदास हो रहा है। आपके ही कारण मन लगा है। आप भी जाने को कहते हैं, तो मेरी क्या दशा होगी। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें कुछ दिन और निवास करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज के बहुत आग्रह करने पर भगवान् कुछ दिन और रह गये। उन्होंने द्वारकाके लिये अपने पुत्र साम्वादिको भेज दिया और कहला दिया, मैं अभी कुछ दिनों के पश्चात् आऊँगा। इधर कुल के सम्बन्ध से दुर्योधनादि कौरव भी कुछ दिन इन्द्रप्रस्थमें और रह गये। श्रीकृष्ण भगवान् की कृपा से धर्मराज अपने मनोरथरूपी समुद्र को सुगमता से पार कर गये। भगवान् के अनुग्रह से उनकी सभी इच्छायें पूर्ण हो गयीं। धर्मराज के यज्ञ के वैभव को देखकर सभी को परम हर्ष हुआ। देश देशान्तरों में लोग यज्ञ की प्रशंसा करते हुए उसी प्रकार नहीं अघाते थे, जिस प्रकार अमृत कोपीने से मनुष्य नहीं अघाते हैं। सबको तो आनन्द हुआ किन्तु यज्ञके

महान् वैभव को देखकर दुर्योधन को महान् क्लेश हुआ। पांडवों के ऐसे अभ्युदय से वह मनही मन जल रहा था। ईर्ष्यावश उसे निद्रा नहीं आती थी। इसी समय एक दुर्घटना घटित हो गयी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गङ्गाजी पै जाइ न्हानकी धूम मचाई।
घेरे रानिनि श्याम उलचि जल देह भिगाई॥
पिचकारी प्रभु मारि करें व्याकुल नारिनि कूँ।
हँसे हँसावें पकरि डुबावें सब साथिनि कूँ॥
रानिनि सँग होरी करत, मलत मुखनि केशरि ललित।
सुमन गिरत शिर कच खुलत, कृष्ण कलित क्रीड़ा करत॥

—::o::—

पांडवोंके अभ्युदयसे दुर्योधनको ईर्ष्या

(११५५)

यास्मिन्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी–
नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः।
ताभिः पतीन्द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥ *
(श्रीभा० १० स्क० ७५अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

करि अवभृत इसनान नृपति निज निजपुर गमने।
सुहृद् बिछोहो निरखि धरम सुत भये अनमने॥
रहे प्रेमवश श्याम सुयोधन ठहरयो कछु दिन।
लखि पांडव धन विभव तासु हिय जरत छिनहि छिन॥
एक दिवस मय सभा महँ, जल थल भ्रम ताकूँ भयो।
थल कूँ जल लखि मोह वश पग रपटयो पुनि गिरि गयो॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मय दानवकी बनाई हुई उस धर्मराजकी सभामें राजाओंकी, दैत्येन्द्रोंकी तथा सुरेन्द्रोंकी सम्पत्तियाँ सुशोभित थीं। उन सब सामग्रियोंसे द्रुपदराजकी सुता द्रौपदीजी अपने पतियोंकी परिचर्या करतीं थीं। ऐसी द्रौपदीजीमें जिसका चित्त आसक्त हो गया है ऐसा दुर्योधन पांडवोंके वैभवको देखकर अत्यंत दुखी हुआ।"

जो सज्जन पुरुष हैं उनका हृदय तो दूसरोंकी उन्नति देखकर प्रसन्न होता है। वे सुखी लागोंको देखकर आह्लादके साथ ... हैं, दुखियोंको देखकर दयासे द्रवित हो जाते हैं, किन्तु जो खल प्रकृतिके होते हैं, वे दूसरोंके अभ्युदयको देखकर जल जाते हैं। किसीका बढ़ता हुआ धन वैभव देखते हैं, तो उन्हें ईर्ष्या होती है कैसे इसकी अवनति हो यही वे सोचते रहते हैं। यद्यपि दूसरोंके अवनति होनेमें उनका कोई लाभ नहीं, फिर भी इतने कलुषित हृदयके होते हैं कि वे सदा दूसरोंका अनिष्ट सोचते रहते हैं। पीठ पीछे अपने सगे सम्बन्धी और कुलवालोंकी भी ऐसी निन्दा करते हैं कि उन बातोंसे उनके हृदयके द्वेषाग्निकी तीव्रता जान पड़ती है दूसरोंको दुखमें देखकर उन्हें आन्तरिक सुख होता है और अपने सम्बन्धी साथियों तककी उन्नतिसे उन्हें पुत्र शोकसे भी बढ़कर शोक होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सज्जनता वश धर्मराजने तो दुर्योधनको अपने कुलका श्रेष्ठ समझकर राजाओंसे भेंट लेनेका काम सौंपा था, किन्तु इसका परिणाम बुरा हुआ। ज्यों ज्यों वह राजाओंकी आई हुई भेंटोंको देखता, त्यों त्यों उसकी ईर्ष्या और भी अधिक बढ़ती। पांडवोंके इस बढ़ते हुए प्रभावसे उसे अत्यधिक आन्तरिक पीडा हो रही थी। उसने देखा लाखों राजा उत्तमसे उत्तम भेंट लेकर राजसूय यज्ञमें आये थे। सोना, चाँदी मणि माणिक्य, रत्न, कम्बल, रेशमी वस्त्र, मृग चर्म, बाघम्बर, चँवर तथा अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओंको कहीं रखनेको स्थान नहीं था। रत्न ऐसे ही मिट्टी कंकड़ोंके ढेरके समान इधर उधर पड़े थे। हाथी, घोडा, रथ तथा ऊँट गौ आदि उपयोगी पशु भेंटमें इतने आये थे कि उनके बाँधनेको स्थान नहीं रहा। दुर्योधन जिधरमें दृष्टि डालता उधर ही उसे चमत्कार सा दिखाई देता था। भोजनोंके लिये वहाँ एक लाख ब्राह्मण साथ बैठते थे। जब लाख खा

थे। पांडवोंके सुहृद, सेवक, मित्र, सम्बन्धी सचिव आचार्य गुरुरूप पथ प्रदर्शक श्रीकृष्ण उनके समीप बैठे थे। वे पांडवों भीतरी बाहरी दोनों प्रकारके नेत्र थे। सूत, मागध तथा उनकी स्तुति कर रहे थे। उसी समय सभामें जानेकी दु र्भा सूझी। जहाँ वह ठहरा था, वह अन्तःपुरका एक अति उत्तम भवन था। धर्मराजने उसके सत्कार सम्मानका विशेष प्रबन्ध कर रखा था। सहसा वह अपना सुवर्ण मंडित मुकुट पहिनकर और हाथमें खड्ग धारण करके अपने दो चार भाइयोंके साथ धर्मराज की सभाकी ओर चला। उसके निकलते ही सहस्रों सेवक द्वार पाल आदिने उसका अनुगमन किया। सबको उसने डाँट फटका कर लौटा दिया। उसने कहा—"तुम लोग मेरे पीछे क्यों आ रहे हो? क्या मैंने राज सभाका मार्ग नहीं देखा है। तुम लो जो वेत्र हाथमें लेकर मेरे आगे पीछे "इधर पधारिये, इधर पधारिये" कहते हुए चलते हो, इसकी क्या आवश्यकता है? क्या मैं अन्धा हूँ, मुझे मार्ग दिखाई नहीं देता। लौट जाओ तुम सब लोग। मैं अकेला ही जाऊँगा।"

कुरुराजकी ऐसी डाँट फटकार सुनकर सबके सब सेवक चुपचाप लौट गये। अब अकेला ही वह अपने भाइयोंके साथ अकड़ता हुआ जा रहा था। मयासुरने उस सभाको इतनी उत्त-मताके साथ बनाया था कि कहीं तो नीलम जड़कर ऐसा फरम बना दिया था कि दूरसे देखने वालोंको जलसे भरा हुआ सरोवर दिखाई देता था। कहीं स्फटिकका ऐसा सरोवर बना दिया था कि उसका जल सङ्गमरमरके आंगनमें दिखाई ही नहीं देता था। दूर-से सभी उसे स्थल ही समझते थे। दुर्योधनने देखा, इन पांडवोंने मुझे भ्रममें डालनेको मार्गमें पानी भर दिया है, अतः उसने अपने वस्त्रोंको समेट लिया, किन्तु वहाँ तो पानी था नहीं। यह देखकर उसने अपनी झेंप मिटानेको वस्त्रोंको फटकारा मानों उनमें

है कीड़ा घुस गया हो उसे खोजनेको वस्त्र समेटे हों। कुछ
ागे बढ़कर यथार्थमें जलका सरोवर था, किन्तु वह मयासुरकी

मायामें ऐसा विमोहित हो गया कि उस जलको उसने स्थल
समझा वह अकड़ता हुआ ऐसे जा रहा था कि वह मानों

गिर पडा। उसके सब वस्त्र भीग गये। वह भीगी बिल्लीकी भाँति सटपटाने लगा। शीघ्रतासे जलसे निकल उसने चारों ओर देखा उसकी इस मूर्खतापर सभासद् तथा रानियाँ खिलखिला कर हँस रहीं थीं। तुरन्त वह भीतके समीप आया। वहाँ उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह द्वार है, ज्यों ही उसमें घुसनेका उसने प्रयत्न किया कि उसका सिर भीतमें टकरा गया। यह देखकर तो सब और भी अधिक हँसने लगे। भीमसेनने व्यङ्गके स्वरमें कहा—"धृतराष्ट्रनन्दन! उधर द्वार नहीं है, द्वार तो इधर है, इधर आइये। उधर कहाँ जा रहे हैं।"

धृतराष्ट्रनन्दन कहनेसे भाव यह था कि जैसे तुम्हारा बाप अन्धा है, वैसे ही तुम भी अन्धे हो। यह कहकर बहुत रोकनेपर भी भीमसेनकी हँसी न रुकी, वे खिलखिलाकर हँस पडे। उन्हें हँसते देखकर स्त्रियाँ तथा दूसरे राजा लोग भी हँस रहे थे। धर्मराजको बड़ा क्लेश हो रहा था, वे बारबार सबको डाँटते डपटते हुए कहते—'हँसीकी इसमें कौनसी बात है, तुम सब लोग ही ही करके दाँत क्यों निकाल रहे हो? दूसरोंके गिरनेपर सहानुभूति प्रकट की जाती है या हँसा जाता है।" धर्मराज तो इस प्रकार सबको गभीरता पूर्वक डाँट रहे थे, किन्तु हमारे ग्वारे देवता सैनो हो सैनोमें सबको संकेत भी करते जाते थे और स्वयं भी हँसते जाते थे। हँसना तो इनका स्वभाव ही ठहरा इनके मुख मण्डल पर सदा सर्वदा हास्य छिटकता रहता है भगवान्का रुख देखकर धर्मराजके मना करने पर भी सब हँस रहे थे।

शौनकजीने पूछा—'सूतजी! ऐसे समय भगवान्को हँसी क्यों सूझी। स्वयं हँसीको न रोक सकते, तो हँस लेते, दूसरोंको उन्होंने हँसनेके लिये क्यों उभाड़ा? यह तो दुर्योधनकी हँसी उडानी थी, उसे लज्जित करके कुपित करना था।"

सूतजी बोले—" महाराज ! यही तो भगवान् वासुदेवको अभीष्ट था। वे भूमि का भार उतारना चाहते थे, इसीलिये तो उन्होंने अवतार हो लिया था। दुर्योधन उनकी इच्छासे तो भ्रममें पड़ गया। जब तक वह कुपित होकर युद्ध करनेको उद्यत न होता, तब तक असुर रूपमें उत्पन्न हुए राजाओंका नाश कैसे होता। भगवान् तो उसे कुपित करके युद्ध करना चाहते थे। जब तक दुर्योधन अपना घोर अपमान अनुभव न करता, तब तक वह सर्वनाशी युद्ध करनेका कभी प्रयत्न न करता। भगवान् ही जिसे कुपित करके लड़ाना चाहें, फिर उसकी क्या सामर्थ्य है जो न लड़े। युद्ध न करे।"

शौनकजीने पूछा—" सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—" अजी, महाराज ! होना क्या था, कर्मोंका जो परिणाम होता है, वही हुआ। धर्मराजने स्वयं उठकर उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की। तुरन्त नये धुले शुभ्र स्वच्छ वस्त्र मँगाये गये। दुर्योधनसे जैसे तैसे वस्त्र बदलवाये। इधर उधरकी मीठी बातें कहकर उसे सन्तुष्ट करना चाहा, किन्तु उसके तो रोम रोमसे क्रोध रूपी अग्निकी चिनगारियाँ निकल रहीं थीं। उसने तुरंत कहा—" महाराज ! मुझे बहुत दिन हो गये, अतः अब मुझे हस्तिनापुर जानेकी अनुमति दीजिये।"

धर्मराजने बड़े स्नेहसे सम्पूर्ण ममता बटोर कर कहा—' न, भैया ! अभीसे तुम चले जाओगे, तो यहाँ काम कैसे चलेगा। अभी तो यहाँ बहुतसे राजा ठहरे हैं। तुम्हें ही तो सब काम करने हैं। जब इतने दिन तुमने निर्वाह किया है, कुछ दिन और रह जाओ।" इस प्रकार धर्मराजने बहुत कुछ कहा, किन्तु उसके मनमें बड़ी लज्जा ग्लानि बैठ गयी, वह सिर नीचा किये हुए क्रोधानलसे जलता हुआ, सभा भवनसे तुरंत उठकर सीधा हस्तिनापुरको चल दिया। उसके सेवक सैनिक पीछेसे सामान लेकर आये।

गिर पड़ा। उसके सब वस्त्र भीग गये। वह भीगी बिल्लीकी भाँति सटपटाने लगा। शीघ्रतासे जलसे निकल उसने चारों ओर देखा। उसकी इस मूर्खतापर सभासद तथा रानियाँ खिलखिला कर हँस रहीं थीं। तुरन्त वह भींतके समीप आया। वहाँ उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह द्वार है, ज्यों ही उसमें घुसनेका उसने प्रयत्न किया कि उसका सिर भींतमें टकरा गया। यह देखकर तो सब और भी अधिक हँसने लगे। भीमसेनने व्यङ्गके स्वरमें कहा—" धृतराष्ट्रनन्दन! उधर द्वार नहीं है, द्वार तो इधर है, इधर आइये। उधर कहाँ जा रहे हैं।"

धृतराष्ट्रनन्दन कहनेसे भाव यह था कि जैसे तुम्हारा बाप अन्धा है, वैसे ही तुम भी अन्धे हो। यह कहकर बहुत रोकनेपर भी भीमसेनकी हँसी न रुकी, वे खिलखिलाकर हँस पड़े। उन्हें हँसते देखकर स्त्रियाँ तथा दूसरे राजा लोग भी हँस रहे थे। धर्मराजको बड़ा क्लेश हो रहा था, वे बारबार सबको डाँटते डपटते हुए कहते—' हँसीकी इसमें कौनसी बात है, तुम सब लोग ही ही करके दाँत क्यों निकाल रहे हो? दूसरोंके गिरनेपर सहानुभूति प्रकट की जाती है या हँसा जाता है।" धर्मराज तो इस प्रकार सबको गंभीरता पूर्वक डाँट रहे थे, किन्तु हमारे ये कारे देवता सैनों हो सैनोंमें सबको संकेत भी करते जाते थे और स्वयं भी हँसते जाते थे। हँसना तो इनका स्वभाव ही ठहरा इनके मुख मंडल पर सदा सर्वदा हास्य छिटकता रहता है। भगवान्का रुख देखकर धर्मराजके मना करने पर भी सब हँस रहे थे।

शौनकजीने पूछा—' सूतजी! ऐसे समय भगवान्को हँसी क्यों सूझी। स्वयं हँसीको न रोक सकते, तो हँस लेते, दूसरोंको उन्होंने हँसनेके लिये क्यों उभाड़ा? यह तो दुर्योधनकी हँसी उड़ानी थी, उसे लज्जित करके कुपित करना था।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यही तो भगवान् वासुदेवको अभीष्ट था। वे भूमि का भार उतारना चाहते थे, इसीलिये तो उन्होंने अवतार ही लिया था। दुर्योधन उनकी इच्छासे तो भ्रममें पड गया। जब तक वह कुपित होकर युद्ध करनेको उद्यत न होता, तब तक असुर रूपमें उत्पन्न हुए राजाओंका नाश कैसे होता। भगवान तो उसे कुपित करके युद्ध करना चाहते थे। जब तक दुर्योधन अपना घोर अपमान अनुभव न करता, तब तक वह सर्वनाशी युद्ध करनका कभी प्रयत्न न करता। भगवान् ही जिसे कुपित करके लड़ाना चाहें, फिर उसकी क्या सामर्थ्य है जो न लड़े। युद्ध न करे।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! होना क्या था, इसीका जो परिणाम होता है, वही हुआ। धर्मराजने स्वयं उठकर उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की। तुरन्त नये धुले शुभ्र स्वच्छ वस्त्र मँगाये गये। दुर्योधनसे जैसे तैसे वस्त्र बदलवाये। इधर उधरकी मीठी बातें कहकर उसे सन्तुष्ट करना चाहा, किन्तु उसके तो रोम रोमसे क्रोध रूपी अग्निकी चिनगारियाँ निकल रहीं थीं। उसने तुरंत कहा—"महाराज ! मुझे बहुत दिन हो गये, अतः अब मुझे हस्तिनापुर जानेकी अनुमति दीजिये।"

धर्मराजने बड़े स्नेहसे सम्पूर्ण ममता बटोर कर कहा—'न, भैया ! अभीसे तुम चले जाओगे, तो यहाँ काम कैसे चलेगा। अभी तो यहाँ बहुतसे राजा ठहरे हैं। तुम्हें ही तो सब काम करने हैं। जब इतने दिन तुमने निर्वाह किया है, कुछ दिन और रह जाओ।" इस प्रकार धर्मराजने बहुत कुछ कहा, किन्तु उसके मनमें बड़ी लज्जा ग्लानि बैठ गयी, वह सिर नीचा किये हुए क्रोधानलसे जलता हुआ, सभा भवनसे तुरंत उठकर सीधा हस्तिनापुरको चल दिया। उसके सेवक सैनिक पीछेसे सामान लेकर आये।

सूतजी कहते हैं—" मुनियो ! दुर्योधनके जाते ही सभी सज्जन लोग हाहाकार करने लगे। सबने एक स्वरमें कहा—" यह अच्छा नहीं हुआ। धर्मराजका चित्त भी खिन्न हो गया। वे अन-मनेसे होकर चिन्तामें पड़ गये। केवल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही प्रसन्न थे। इस प्रकार राजसूय यज्ञके अन्तमें ही महाभारत युद्ध का बीज बो गया। द्यूत सभामें वह अङ्कुरित हो गया, वनवासमें पल्लवित और पुष्पित हुआ। पीछे उसमें जो विषाक्त फल लगे, उनसे कुरुकुलका तथा पृथिवीके समस्त राजाओंका नाश हो गया। उसका वर्णन विस्तारके साथ महाभारतमें है। प्रसङ्गवश उसकी कुछ कथायें मैंने पीछे कहीं हैं कुछ आगे भी समयानुसार कहूँगा। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी कृपासे धर्मराज युधिष्ठिर-का यज्ञ विधि विधान पूर्वक बड़ी धूमधामसे समाप्त हुआ। भगवान् राजसूय यज्ञके प्रसङ्गसे बहुत दिनों तक इन्द्रप्रस्थमें रहे आये। इधर द्वारका पुरीको श्रीकृष्णसे रहित देखकर तथा अपने मित्र शिशुपालका वध सुनकर भगवान्के द्रोही आसुरी प्रकृतिके राजा शाल्वने भगवान्की पुरी पर चढ़ाई कर दी। उसने यादवों-से बड़ा घनघोर युद्ध किया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—" सूतजी ! यह शाल्व कौन था ? यादवोंसे यह द्वेष क्यों मानता था। कृपा करके आप हमें शाल्वका वृत्तान्त सुनाइये। भगवान्ने इसका वध किया या नहीं।"

सूतजी बोले—" महाराज ! इसीके वध करनेके लिये तो भगवान्को तुरन्त द्वारका जाना पड़ा। भगवान्की अनुपस्थितिमें इसने यादवोंपर अकस्मात् प्रहार कर दिया। इससे यादव बड़े व्यथित हुए। अब मैं आपको शाल्व और यादवोंके युद्धकी ही कथा सुनाता हूँ। आप लोग उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लखि पाडव नृप हँसे धरमसुत बहुत निवारे ।
किन्तु कौतुकी कृष्ण सैन महँ सबहिँ उभारे ॥
दुरजोधन अति दुखी भयो खीज्यो खिसियायो ।
सबहिँ व्यग तैं कहैं अंधने अधो जायो ॥
भरयो क्रोधमें चलि दयो, हथिनापुर महँ आइकें ।
छलैं पाडवनि द्यूत महँ, सोचैं गुट्ट बनाइकें ॥

द्वारकापर शाल्वकी चढ़ाई

(११५६)

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

इत यदुवर तैं रहित द्वारका शाल्व निहारी।
चढ़िकें सौभ विमान लड़ाई कीन्ही भारी॥
करत नगर विध्वंस लड़ै नहिँ हारत अधमति।
यादव वंश विनाश हेतु तप कीन्हों खल अति॥
औघरदानी शम्भुने, इच्छित वर ताकूँ दयो।
वायुयान वर मय रचित, पाइ मत्त दुरमति भयो॥

भगवान् जब जैसी लीला करना चाहते हैं, तब तैसी ही प्राणियों की बुद्धि बदल देते हैं। नहीं तो त्रिभुवन सुन्दर, भुवन-मोहन, जगत्पति के प्रति वैर भाव कर ही कौन सकता है? वैर करके कोई उनका बिगाड़ ही क्या सकता है? उनके आश्रितों का

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन्होंने लीला के लिये ही मनुष्य शरीर धारण किया उन श्रीकृष्णचन्द्रने जिस प्रकार सौभपति शाल्व को मारा था, उस अद्भुत चरित्रको आप और भी श्रवण करें।"

अनिष्ट कोई कर ही नहीं सकता, किन्तु क्रीडा करने के निमित्त वे किसी की मतिको विपरीत बना देते हैं, जिससे द्वेषवश वह भगवानसे और भगवत्भक्तोंसे विरोध करे। विरोधमें ही संघर्ष होता है। वह संघर्ष ही उनकी क्रीड़ा है, उसी संघर्ष में वे अन्य पात्रोके साथ क्रीडा करते हैं। वह क्रीडा ही भक्तों के लिये परम श्रवणीय चरित्र हैं। खेल तो खेल ही है, चाहे वह शृंगारका खेल हो अथवा हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक अथवा शान्त हो सब समान ही हैं। उनमे भगवान् और भगवत्भक्त लिप्त नहीं होते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दुर्योधन मयनिर्मित सभा में गिरनेसे बडा दुखी हुआ, उसने इसमे अपना वडा अपमान अनुभव किया। जल तो वह पहिले ही से रहा था। ईर्ष्यावश विक्षुब्ध तो वह प्रथम ही था। अब प्रज्वलित अग्निमें इस घटना ने घृताहुतिका कार्य किया। वह चला गया, तो धर्मराज उदास हुए। श्रीकृष्ण नित्य ही द्वारका जाने की तैयारियाँ करते, किन्तु कोई न कोई कारण बताकर धर्मराज उन्हें प्रेम पूर्वक रोक लेते।

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्ने धर्मराजसे कहा—'राजन! आप सबको छोडकर मेरी कभी भी जानेकी इच्छा नहीं होती, किन्तु आजकल मुझे बड़े बड़े अपशकुन दिखाई दे रहे हैं। इस कारण मुझे सन्देह हो रहा है, कि अवश्य ही द्वारका में कुछ अघटित घटना घटित हो गयी है, अतः मुझे अब जाने की आज्ञा दें।"

आँखोंमें आँसू भरकर धर्मराज बोले—"वासुदेव! अब मैं कैसे कहूँ। मैं कभी चाहूँगा, कि आप मुझसे कभी पल भर भी पृथक रहें, किन्तु अब मैं अधिक रोकने का आग्रह भी नहीं कर सकता। द्वारका भी आपके बिना सूनी हो जाती है"

भगवान् ने कहा—"नहीं, कोई विशेष कार्य होता, तब तो रहना अनिवार्य ही था। अब आपका यज्ञ सकुशल समाप्त हो ही गया। यज्ञमें आये हुए प्रायः समस्त नृपतिगण चले ही गये। यों तो फिर न कभी आप जाने को कहेंगे और न मेरी ही जानेकी इच्छा होगी।"

धर्मराजने कहा—"प्रभो ! यज्ञके कर्ता धर्ता तथा पूर्ण कराने वाले तो आप ही हैं। आपकी कृपासे ही सब कुछ हुआ है, नहीं तो मुझमें ऐसी सामर्थ्य कहाँ है। इतने बड़े बड़े पृथिवीके समस्त राजाओं ने श्रद्धा पूर्वक भेंटे दी और दासों की भाँति यज्ञ में कार्य किया।"

यह सुनकर भगवान्ने अत्यंत स्नेहसे धर्मराज को पकड़ लिया और पकड़े ही पकड़े उन्हें भीतर अन्तः पुरमें कुन्तीजी के पास ले गये और बोले—"बुआ ! देख, तुम्हारा पुत्र सम्राट बन गया। इनकी राजसूय यज्ञ करने की प्रबल इच्छा थी वह पूर्ण हो गयी। यज्ञका सब कार्य समाप्त होगया। अब मुझे भी जानेकी अनुमति मिलनी चाहिए।" इतना सुनते ही कुन्तीजी श्रीकृष्ण के भावी वियोग का स्मरण करके रोने लगीं। उसी समय सुभद्रा और द्रौपदी वहाँ आगयीं। श्रीकृष्णके गमन की बात सुनकर वे भी उद्दाम हुईं उनके भी नेत्रों की कोरोंसे अश्रु बह रहे थे। भगवानने ब्राह्मणोंसे स्वस्त्ययन कराया और रथमें बैठकर सब से अनुमति लेकर वे द्वारकाकी ओर चले। प्रेममें विह्वल हुए धर्मराज युधिष्ठिर भाइयों के सहित उनके पीछे चले। धर्मराज को पीछे आते देखकर भगवानने रथ खड़ा कर दिया और स्वयं रथसे उतर कर सबके समीप आये। फिर सबसे भली भाँति बार बार मिल भेंट कर वे द्वारकापुरी को चले गये। पांडवों को भगवान्के बिना सब सूना सूना दिखायी देता था।

इधर मयदानव निर्मित सभामें जलमें स्थल का भ्रम हो जानेसे जो दुर्योधन ने अपना अत्यधिक अपमान अनुभव किया, उसका परिणाम बड़ा भयङ्कर हुआ। वह पांडवों को नीचा दिखाने के लिये निरन्तर उपाय सोचने लगा। उसका एक मामा शकुनि था, वह बड़ा भारी धूर्त और जुआड़ी था। उसने बीरा उठाया, जुएमें युधिष्ठिरको मैं जीत लूँगा। आप अपने पिता धृतराष्ट्रसे द्यूत सभा करने की अनुमति भर ले लें।"

इस बातसे दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ जिस किसी भाँति उसने अंधे धृतराष्ट्रसे जुआ की अनुमति ले ली। यद्यपि अंधे धृतराष्ट्र जुएके दोषोंको जानते थे, किन्तु पुत्र स्नेह के कारण इच्छा न रहने पर भी उन्हें अनुमति देनी पड़ी।"

धर्मराजको द्यूतके लिये आमंत्रित किया गया। उस समय का कुछ ऐसा सदाचार था, कि एक क्षत्रिय को दूसरा क्षत्रिय युद्ध के लिये या द्यूतके लिये आमंत्रित करे, तो वह मना करनेमें अपना अपमान समझता था। द्यूत और युद्धकी चुनौती को श्रेष्ठ क्षत्रिय स्वीकार कर ही लेते थे। इसी लिये धर्मराज द्यूत के निमंत्रण को पाकर हस्तिनापुर आये। जूआ हुआ उसमें शकुनि ने बड़ा छल किया। धर्मराज जुएमें अपना सर्वस्व हार गये, यहाँ तक कि अपनी पत्नी द्रौपदी को भी हार गये। पीछे धृतराष्ट्रने वर देकर द्रौपदी को मुक्त कर दिया और पांडवों का राज्य भी लौटा दिया। पांडव इन्द्रप्रस्थ को जा रहे थे, कि शकुनि की सम्मतिसे फिर धर्मराजको लौटाया गया और अबके जूएमें यह पण लगाया कि जो हारे वही बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास करे। अज्ञात वासकी समाप्तिके पूर्व यदि उसका पता लग जाय, तो फिर बारह वर्षका अज्ञात वास हो।" दुर्योधनादि कौरवोंने सोचा—"पांडव ऐसे बली और प्रसिद्ध हैं, कि वे चाहे जहाँ भी जाकर छिपें उनका पता लगही जायगा। इस प्रकार पूरा जीवन

उन्हें वनमें ही बिताना पड़ेगा।"

यही सोचकर उन्होंने यह पण रखा। धर्मराजने इसे स्वीकार किया। शकुनि के छलसे अबके भी धर्मराज ही की हार हुई। वे वल्कल वस्त्र पहिन कर कुन्तीजी को विदुरजी के यहाँ रखकर द्रौपदी तथा भाइयाके सहित वनमे चले गये और वहीं वनोंमें रहकर वनवासियों का सा जीवन बिताने लगे। कल तक जो सम्राट थे, आज वे वनवासी हो गये काल की कैसी कुटिल गति है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—' सूतजी ! भगवान्ने आकर जूएको रुकवा क्यों नहीं दिया। धर्मराजकी ऐसे समय पर सहायता क्यों नहीं की ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! इस सबको कराने वाले भगवान् ही तो थे। भगवान् की इच्छासे ही तो हुआ। वैसे लौकिक दृष्टिसे देखा जाय, तो भगवान् शाल्वसे युद्ध कर रहे थे। जब तक शाल्व को मारा तब तक पांडव वनवासी बन चुके थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आप प्रथम हमें शाल्व वधको कथा सुनावें। यह शाल्व भगवान्से क्यों द्वेष करता था ? भगवान्ने इसे क्यों मारा ?"

सूतजी बोले—" हाँ, महाराज ! अब मैं आपको शाल्व वधकी ही कथा सुनाता हूँ। यह राजा शाल्व बड़ा बली था। मार्तिकावत नामक नगरमें यह राज्य करता था। जरासन्ध और शिशुपाल का यह बड़ा मित्र था। जैसों की मित्रता तैसों के ही साथ होती है। ये लोग सब आसुरी प्रकृति के थे, भगवान्से द्वेष मानते थे। शिशुपाल जब कुण्डिनपुरमें महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणीजी के साथ विवाह करने गया था, तब बरातमें जरासन्ध आदि राजाओं के साथ यह शाल्व भी गया था और यह भी सब राजाओं की भाँति युद्धमें हार गया था। यादवोंसे युद्धमें हारने

पर इसे बड़ा क्लेश हुआ। वह राज्य पाट छोड़कर उत्तरा खण्डमें घोर तपस्या करने चला गया। जाते समय वहीं कुण्डिनपुरमें सब राजाओं के सम्मुख इसने प्रतिज्ञा की—"राजाओ! आप मेरी प्रतिज्ञा को ध्यान पूर्वक श्रवण करें। मैं एक दिन सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल को यादवोंसे शून्य कर दूँगा। आप सब मेरा पुरुषार्थ देखें।" ऐसी प्रतिज्ञा करके, वह उत्तरा खण्डमें देवाधि देव महादेवजीको प्रसन्न करने के निमित्त घोर तप करने लगा।

तपस्या के कालमें उसने आहार का त्याग कर दिया। आठ पहरमें केवल एक बार एक मुट्ठी भस्म फाँक लेता था, नहीं तो शेष समय शिवजी की आराधनामें ही लगा रहता। इस प्रकार वह एक वर्ष पर्यन्त घोर तप करता रहा। एक वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर आशुतोष भगवान् भोले नाथ बोले—"राजन्! मैं तुम-पर प्रसन्न हूँ। तुम इतना घोर तप क्यों कर रहे हो, मैं तो एक चुल्लू जलसे तथा गाल बजानेसे ही प्रसन्न हो जाता हूँ। तुम इतने काया क्लेशकारी कठोर तपको छोड़ो और मुझसे अपना अभीष्ट वर माँगो।"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए विनीतभावसे शाल्व बोला—'प्रभो! आप शरणागतवत्सल हैं, आप आशुतोष हैं, यदि आप मुझसे वास्तवमें प्रसन्न हैं, तो मुझे एक ऐसा वायुयान दीजिये जिस पर उड़कर मैं आकाशसे अस्त्र शस्त्रोंकी वर्षा कर सकूँ। वह विमान सर्वत्र इच्छानुसार जा सके। जिसे देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, सर्प तथा राक्षस आदि कोई भी न जीत सके और वह यादवों को भय देने वाला हो।"

शिवजी तो औघडदानी ही ठहरे। वे बोले—' अच्छी बात है, राजन्! ऐसा ही होगा। तुम्हें हम मयसे कहकर हम सप्त धातुओं का ऐसा सुन्दर विमान बनवाए देते हैं, जो शत्रुओंको जीतने वाला होगा, आकाशमें इच्छानुसार उड़ सकेगा और वह

लोह मय विमान ऐसा अन्धकार मय होगा, कि उसे उड़ते हुए कोई देख न सके।"

यह सुनकर शाल्व अत्यंत प्रसन्न हुआ। भगवान्‌ने मयदानव को आज्ञा देदी। उसने तुरन्त एक अत्यंत सुन्दर समस्त युद्धोपयोगी सामग्रियोंसे युक्त विमान बनाकर उसे दे दिया। उसे लेकर वह अपने घर गया। उसने आकर यादवों पर चढ़ाई करने के निमित्त शनैः शनैः एक बड़ी भारी सेना एकत्रित करली। इतनी बड़ी सेना और सौभ विमानके रहते हुए भी जब भगवान द्वारका में निवास करते तब उसका साहस उन पर चढ़ाई करनेका नहीं हुआ।

जब भगवान् धर्मराजके राजसूय यज्ञमें इन्द्रप्रस्थ चले गये तब शाल्व ने द्वारकापुरी पर चढ़ाई करने का अच्छा अवसर देखा। उसी समय उसने सुना श्रीकृष्णचन्द्रने मेरे सखा शिशुपाल का भरी सभामें चक्रसे सिर काट लिया है, तब तो उसका क्रोध सीमाको उल्लङ्घन कर गया। उसने अपनी बड़ी भारी चतुरङ्गिनी सेना सजाई और द्वारकापुरी पर अकस्मात् चढ़ाई करदी। उसने पुरीको चारों ओरसे घेर लिया। यादवों को कल्पना भी नहीं थी, कि कोई हमारे ऊपर चढ़ाई करेगा। वे तो निश्चिन्त होकर आमोद प्रमोदमें लगे हुए थे। शाल्वकी सेना ने सहसा चढ़ाई कर दी और द्वारावती का विध्वंस करने लगी। सैनिक पुरीके सुन्दर सुन्दर उद्यान और उपवनों को, गोपुर, द्वार, प्रासाद और अट्टालिकाओं को तथा मुँडेलियाँ विहार गृह तथा सभा भवनों को तोड़ने फोड़ने लगे। स्वयं शाल्व अपने सौभ नामक विमान पर चढ़कर उसी में से अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करने लगा। विमान में से ऐसे अस्त्र गिरते थे कि ऊपर से तो गिरते समय एक प्रतीत होते, किन्तु जब वे फट जाते तो असंख्यों हो जाते। ऊपर से बड़े बड़े पहाड़ों की शिलायें गिरने लगीं। बड़े बड़े वृक्ष टूट टूट कर गिरने लगे। विषधर सर्प

परसे गिरते जो काट लेते। आकाश से निरन्तर ओले गिरने
गे। प्रचण्ड बवण्डर के कारण सम्पूर्ण दिशाएँ धूलिसे व्याप्त
 गयीं। जैसे पहिले त्रिपुर निवासी असुर पृथिवी के रहने वालों
ो आकाश से अस्त्र वर्षा कर पीड़ित करते थे, वैसे ही शाल्व
ारका वासियों को पीड़ित करने लगा।

अब तो यादवों को चेत हुआ। उन्होंने नगरमें आमोद प्रमोद
ी रोक लगा दी। यह आज्ञा प्रसारित करदी, कि कोई न तो
ादिरा पान करे और न नाटक अभिनय ही देखे। नगर के सब
ट नर्तक निकाल कर बाहर कर दिये। सैनिकों को सुसज्जित
ोने की आज्ञा दी। नगर के चारों ओर लोहे के बने त्रिकोण
से काँटे बिछवा दिये कि वे जिधर भी लुढ़क जाँय उधर ही पैरों
ं घुस जायँ। उनके ऊपरसे शत्रुका एक भी सैनिक नहीं आ
कता था द्वारकापुरीमें प्रवेश करने के जो लोहे के पुल थे वे
खाड़ लिये गये। स्थान स्थान पर सैनिकों का पहरा बैठा दिया
ाया। ऊपरसे गिरने वाले अस्त्र नीचे आने ही न पावें बीचके
ीचमें ही उड़ जायँ ऐसे यन्त्र लगा दिये गये। स्थान स्थान पर
ाक्रमण रोकने के लिये विध्वंस कारिणी, भुसुंढियाँ, शतनियाँ
ाथा अन्य भी गोला फेंकने वाले यन्त्र स्थापित किये गये। बड़ी
ड़ी सुरंगे तुरन्त तैयार की गयीं। मुख्य मुख्य स्थानों पर सैनिकों
 लिये अन्न पानी की ऐसी व्यवस्था कर दी गयी, कि चाहे जितने
देन युद्ध चले उन्हें आहार की न्यूनता न होने पावे। युद्धमें काम
ाने वाली वस्तुएँ जैसे अग्निबाणों को ठेलने वाले आयुध, तोमर,
अंकुश, शतघ्नी, लाङ्गल, भुशुण्डी, पाषाण खण्ड, त्रिशूल, फरसे,
लोह चर्म आच्छादित ढालें, गन्धक तथा अन्य तुरन्त अग्नि लगा
ने वाली वस्तुएँ विपुल मात्रामें एकत्रित थीं। सारांश यह कि शत्रु
के आक्रमण को रोकने के निमित्त जितनी तैयारियाँ होनी चाहिए
उतनी तैयारियाँ महाराज उग्रसेन की आज्ञासे की गयीं।

नगर वासी शाल्वके आक्रमण से भयभीत से हो गये थे। क्यों कि स्थल की लड़ाई होती, तो उसका सामना भी करते। शाल्व तो ऊपर आकाश से अस्त्र शस्त्रोंकी वर्षा कर रहा था। यदि एक स्थान निश्चित होता, तो वहाँ प्रत्याक्रमण की तथा अस्त्र शस्त्रों के रोक थाम की व्यवस्था भी की जाती। शाल्व का वह वायुयान तो मय दानव कृत था कभी तो वह एक दिखायी देता, कभी अनेक रूपोंमें दीखता। कभी अदृश्य हो जाता, कुछ कालके पश्चात् फिर दिखायी देने लगता। कभी कभी तो वह पृथिवी पर उतर आता वहीं से निरन्तर अस्त्रों को फेंकता, कभी आकाश में उड़ता हुआ सम्पूर्ण नगरी पर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करने लगता। कभी उसे समुद्र पर तैरते हुए लोग देखते। कभी पर्वतके शिखर पर स्थिर हो जाता। इस कारण सभी उसके इन कार्योंसे विस्मित और भयभीतसे हो गये थे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र श्रीप्रद्युम्नजी ने जब देखा, कि नगर निवासियों के ऊपर तो शाल्वके विमानने आतंक स्थापित कर रखा है, तब आप सबको सान्त्वना देते हुए मेघ गम्भीर वाणीसे कहने लगे—"डरने का कोई काम नहीं। मैं अभी जाकर युद्धमें शत्रुको परास्त करूँगा।"

प्रद्युम्नजी के ऐसे वीरता पूर्ण वचनों को सुनकर सबको धैर्य हुआ। सबको धैर्य बँधाकर वासुदेव नन्दन श्रीप्रद्युम्नजी, सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, अक्रूर तथा उनके भाई, हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक, सारण तथा अन्यान्य बड़े बड़े धनुर्धर महारथी यादव वीरोंके साथ शाल्वसे लड़ने चले। इनके साथ अपार चतुरंगिनी सेना थी। हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति सेनासे सुरक्षित समस्त शूर वीर साहस के साथ समर के लिये जा रहे थे। वे सबके सब अंगो की रक्षा के लिये दृढ़ कवच धारण किये हुए थे। इन सबके सेनापति प्रद्युम्नजी थे। सेना सहित श्रीकृष्ण नन्दन प्रद्युम्नजी को

द्ध के लिये आते देखकर शाल्वने गर्जना की। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। अब प्रद्युम्नका और शाल्वका जैसे युद्ध होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब दत्त चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

इन्द्रप्रस्थ प्रभु गये द्वारका पै चढ़ि आयो।
लैकें सौभ विमान नगर महँ दुंद मचायो॥
अस्त्र शस्त्र बरसाइ तुरत नभ महँ छिपि जावै।
जल महँ उतरे फेरि सतत गोला बरसावै॥
हरिनन्दन प्रद्युम्न तब, सजि सेना रिपु दलन हित।
चले संग यादव सुभट, भये सौभ लखि चलित चित॥

प्रद्युम्न और शाल्वका युद्ध

(११५७)

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७६ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

डरे नहीं प्रद्युम्न प्रथम रिपु माया नाशी।
छोड़े अगनित बान कृष्ण नन्दन सुखराशी॥
कीयो मूर्छित शाल्व सचिव ताको पुनि आयो।
देख्यो आवत शत्रु तबहिं रथ तुरत घुमायो॥
सहसा श्रीप्रद्युम्न हिय, गदा मारि गरज्यो सचिव।
वज्र सरिस हिय महँ लगी, दुखित सारथी भयो तब॥

परस्परमें दो वीर लड़ते हैं, तो दोनों में से एककी जय दूसरे की पराजय होती ही है। जो लड़ने चलता है, वह अपनेको सर्वश्रेष्ठ शूर समझता है। जिसे अपनी शूरतामें सन्देह होगा, वह दूसरेसे युद्ध ही क्यों करेगा। कभी कभी अपने बल पर पूर्ण विश्वास रहने पर भी बली पुरुष साधारण शूर वीर से

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब प्रद्युम्नजीका शाल्वके साथ युद्ध होने लगा, तब शाल्व ने मायाकी। उस शाल्वकी सम्पूर्ण मायाको प्रद्युम्नजीने दिव्यास्त्रोंसे एक क्षणमें उसी प्रकार नाश कर दिया, जिस प्रकार सूर्यदेव रात्रिके अंधकारको नाश कर देते हैं।"

ग़त हो जाता है, किन्तु उस पराजय से भयभीत हो कर लड़नेकी इच्छा न करे, तो कायरता है, किन्तु जो पराजयको युद्धका एक सामान्य अङ्ग समझ कर उसकी उपेक्षा करता ोर वीरताके साथ पुनः शत्रुके सम्मुख समरमें आ डटता वही वीर है। ऐसे साहसी और निर्भीक वीरकी कभी ाय नहीं होती। वह जब तक जीवित रहता है, तब तक प्राप्त करता है और जब शत्रुके सम्मुख वीरताके साथ अस्त्र ोंसे मरता है तो मरकर स्वर्ग जाता है। वीरोंका न कभी ाश होता है न उनकी मृत्यु ही होती है वे तो सदा अजर : बने रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शाल्वने जब द्वारावती पुरी चढ़ाई की, तब प्रद्युम्नजी अपनी सेना सजाकर उसका सामना । के लिये चले। उसने आसुरी माया फैला रखी थी। उसे म्नजीने आते ही अपने दिव्य अस्त्रों द्वारा नाश कर दिया। प्रथम उन्होंने शाल्वके सेनापतिपर पचीस बाणोंसे प्रहार ा। वे बाण सामान्य बाण नहीं थे उनकी नोंकें तीक्ष्ण और म लोहेकी थीं। उनके पंख सुवर्णके थे। वे दुहरे करने पर भी ो नहीं थे, क्यों कि उनमेंके बीचके जोड़ दिखाई नहीं देते थे ो सम थे। सेनापतिको बाणोंसे व्यथित करके उन्होंने साथ ही बड़े लाघवसे सौ बाण तो सौभके मारे और भी ने उसके साथ सैनिक थे, सबमें एक एक बाण मारा। एक एक सेनाकी टुकड़ीके अधिनायक थे, उनके दस दस ा मारे और तीन तीन बाणोंसे शत्रु पक्षीय हाथी. घोड़ा दि वाहनोंको वेध दिया।

अब तो सर्वत्र प्रद्युम्नजीकी वीरताकी प्रशंसा होने लगी। दव वीर सिंहनाद करके वासुदेव नन्दनकी जय बोलने लगे र शत्रुपक्षके वीर भी मन ही मन कहने लगे—"हाँ यह कोई

भारी शूर वीर है।"

शाल्वका विमान उस स्थान से उड़ कर अदृश्य हो ग
प्रद्युम्नजी उसे देखते रहे कहीं दिखायी नहीं दिया। सहसा
दूरसे दिखायी दिया, तुरन्त वे अपने साथी यादव वीरोंको ले
वहाँ गये, वहाँ जाकर उन्होंने असंख्यों बाण उसके ऊपर छ
वे सब बाण सूर्य के समान चमकीले थे, अग्निके समान जल
थे, सर्पों के समान विषमुख वाले थे और इन्द्रके व
समान अमोघ थे। वे गरुड़के समान वेगसे जाने वाले थे।

प्रद्युम्नजी से प्रथम शाल्वका महामंत्री द्युमान् लड़ा
वह बड़ा ही बली और समरविजयी था, किन्तु प्रद्युम्
बाण मार कर उसे परम दुखित कर दिया, इस लिये वह
छोड़ कर भाग गया। तब प्रद्युम्नजीने उसे छोड़ दिया औ
शाल्वपर प्रहार करने लगे। यद्यपि शाल्व आकाशचारी वि
था और प्रद्युम्नजी पृथिवी पर चलने वाले रथ में थे, फिर भी पृ
पर से ही उन्होंने ऐसी बाण वर्षा की कि शाल्व मूर्छित होगय

शाल्वके मूर्छित हो जाने पर तुरन्त चेत होने पर प्रधान
द्युमान् प्रद्युम्नजीके सम्मुख आया। यादव वीर दृढ़ प्रतिज्ञ ह
रणमें डटे हुये थे। वे युद्धसे हटनेका नाम नहीं लेते थे। उ
दृढ़ निश्चय कर लिया था, कि या तो शत्रु को परास्त करके
प्राप्त करेंगे या युद्धमें शत्रुके सम्मुख शस्त्रों से प्राण त्या
स्वर्ग जायँगे। इसी लिये किसीने समरसे पीछे पग हट
मनसे भी विचार नहीं किया द्युमान ने सहसा आकर वज्र
निर्मित एक बड़ी भारी भयङ्कर गदाको प्रद्युम्नजीकी छातीमें म
और मार कर सिंहके समान उसने गर्जनाकी, उसके लग
उनका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया, वे संज्ञाशून्य होकर रथमें गि
उनके गिरते ही उनके बुद्धिमान् सारथीने रथ तुरन्त ही युद्धक्षे
से हटा लिया। वह शत्रु सेनाको चीरता हुआ बाहर निकल ग

म्नजीको रणसे भागते देखकर शत्रु सेनाके लोग परम हर्षित । यादव वीर शोकमें मग्न होकर हाय हाय करने लगे।

रणाङ्गणसे दूर जानेपर प्रद्युम्नजीको शीतल वायु लगी। के लगते ही उनको मूर्छा भंग हुई। उन्होंने अपनेको समर-नसे बाहर एकान्तमें पाया। पहिले तो वे समझ ही न सके मैं यहाँ कैसे आगया। कुछ देर इधर उधर देखकर वे सब स्थको समझ गये। उन्होंने अपने सारथीको डाँटते हुए कहा—त ! तुमने यह क्या किया ? मुझे तुम रणाङ्गणसे बाहर क्यों आये ?"

हाथ जोड़कर विनीत भावसे सारथीने कहा— "प्रभो ! प मूर्छित होगये थे।"

घुड़क कर प्रद्युम्नजीने कहा—"मूर्छित होगये थे, तो क्या ना, रणमें तो यह होता ही है। कोई किसी पर प्रहार ता है, कोई मूर्छित होजाता है। शूरवीर पुरुष मूर्छासे राते नहीं। जो घबराकर प्राणोंके भयसे रण छोडकर भागता वह कायर कहलाता है। यद्यपि मैंने कभी युद्धमें कायरता ीं की किन्तु कायर स्वभावके सारथीके कारण आज मेरी भी णना कायरोंमें होगयी रणसे पीछे हट जाना यह हम क्षत्रियोंके ये अत्यंत ही कलङ्ककी बात है। यह अपमान तो मृत्युसे भी ढ़ कर है। अब मैं किसीको मुख दिखाने योग्य भी न रहा। रे पिता आकर जब मुझसे पूछेंगे तू युद्ध से क्यों भाग ाया ?" तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा। मेरे ताऊ बलदेवजी ब अपमानके स्वरमें कहेंगे, कि तुमने क्षत्रियधर्मका उलङ्घन केस कारणसे किया तो मेरे पास इसका कोई उत्तर ही नहीं। रे समयवयस्क बन्धु बाँधव अब मेरे इस अपमान जनक नेन्दित कुकृत्य की परस्परमें चर्चा करेंगे, तो मुझे मरणके समान क्लेश होगा। सम्भावित की अपकीर्ति होनी मरणसे

अधिक क्लेशकर बताई जाती है। यदुकुलमें उत्पन्न कोई भी वीर रण भूमिसे हटता हुआ नहीं सुना गया। जब मेरी भाभियाँ हँसी हँसी मे कहेंगी—"कहिये शूरवीर देवर! युद्धमें विपक्षी वीरोंने किस कारण आपको कायर बना दिया?" तब मैं उन्हे क्या उत्तर दूँगा। तू मेरा मित्र रूपमे शत्रु है। प्रतीत होता है या तो तू युद्ध विद्यासे अनभिज्ञ है या शत्रुओंने तुझे लोभ लालच देकर अपनी ओर मिला लिया है।"

यह सुनकर विनयके साथ सारथी ने कहा—"आयुष्मन्! आप मेरे ऊपर व्यर्थ सन्देह न करें। न तो मैं शत्रुओंसे मिला हो हुआ हूँ और न युद्ध धर्म से अनभिज्ञ ही हूँ मैं आपके पूज्य पिता के सारथी दारुकका पुत्र हूँ। मैं बड़ी बड़ी लड़ाइयोंमें आपके साथ रहा हूँ। मुझे रथी और सारथीके कर्तव्योंका भली भाँति ज्ञान है। सारथीका धर्म है कि जब रथी को बड़े भारी संकटमें घिरा देखे, तो जैसे भी बने तैसे उसे अपने स्वामीकी रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार रथी का भी कर्तव्य है, कि अपने सारथी की सब प्रकारसे रक्षा करे। इस धर्म को जानते ही हुए मैंने ऐसा किया। जब आप शत्रुकी गदासे अचेत होगये थे, तब मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। यह बड़े सौभाग्यकी बात है आपको पुनः चेत हुआ। अब आप जैसी भी आज्ञा देंगे तैसा ही किया जायगा।"

यह सुनकर प्रद्युम्नजीको कुछ सान्त्वना हुई। उनका कवच वज्रके प्रहार से छिन्न भिन्न होगया था। अतः उन्होंने दूसरा कवच धारण किया। हाथ मुख धोकर आचमन किया और फिर सारथीसे बोले—"तू अभी तुरन्त मुझे शाल्वके सचिव वीरवर द्युमान के समीप ले चल। मैं उसे इसका फल चखाऊँगा।"

सारथीने कहा—"जो आज्ञा, मैं अभी चलता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर सारथी पुनः प्रद्युम्नजीको उस द्युमान्के पास ले गया जो निर्भय होकर यादवोंसे युद्ध कर रहा था। अब जैसे उन दोनोंमें युद्ध होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

लै रथ रन तैं भग्यो चेत हरि सुत कूँ आयो।
युद्ध पलायन निरखि सारथी अति धमकायो॥
करिकें पुनि पयपान कवच बदल्यो रन आये।
गरजन भीषन करी शत्रु सैनिक घबराये॥
मंत्री शाल्व द्युमान् वध, कर्यो फेरि आगे बढे।
करहिं बान बरसा असुर, वायुयान पै सब चढ़े॥

यादवोंका शाल्व से भयङ्कर युद्ध

(११५८)

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ *
(श्रीभा० १० स्क० ७७ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

सत्ताइस दिन भयो युद्ध नहिँ यादव हारे ।
हय, गज, पैदल, रथी सौभपति के बहु मारे ॥
भगै न खल छल करै शस्त्र नभ तैं बरसावै ।
बन, उपवन, आराम, सभा घर तोरि गिरावै ॥
पुरी सकल जर्जर करी, पुर वासिनि अति दुख दियो ।
इन्द्रप्रस्थ तैं आइ इत, श्याम परम विस्मय कियो ॥

कोई चाहे कितना भी निर्बल क्यों न हो, यदि उसकी मृत्
नहीं तो बली से बली भी उसे नहीं मार सकता । इसके विपरीत
यदि कोई बली भी है और उसकी मृत्यु की घड़ी आ गयी है, व

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार यादवों क
शाल्व की सेना के साथ परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करते हुए, सत्ता
ईस दिनों तक बड़ा घोर घमासान युद्ध हुआ ।"

उसे ऐसा साधारण मनुष्य भी मार सकता है. जिसके हाथों उसकी मृत्यु बदी है। असुरों के बलदाता भी भगवान् वासुदेव ही हैं और सुरों को निर्बल बनाने वाले भी वे ही हैं, जब जैसा समय आता है, तब तैसे लोगों को वे बली अथवा निर्बल बना देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्रद्युम्न जी ने अपने सारथी को युद्ध से चले आने पर बहुत डाँटा डपटा । स्वस्थ होकर उन्होंने पुनः सारथी को युद्ध भूमि में चलने की आज्ञा दी। वासुदेव नन्दन प्रद्युम्नजी की आज्ञा पाकर सारथी पुनः रणाङ्गणकी ओर बढ़ा, उसने घोड़ों की रासों को बड़ी सावधानी से पकड़ा । तोत्र के छुआते ही घोड़े वायुवेग के समान दौड़े। दर्शकों को दूर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रद्युम्न जी का रथ आकाश में उड़ रहा है। सारथी अपने अश्व परिचालन की कला का प्रदर्शन कर रहा था। कभी घोड़ों को दाईं ओर ले जाता. कभी बायीं ओर कभी चलाते चलाते चक्कर काटने लगता, कभी पीछे हट जाता। इस प्रकार शत्रु सेना को चीरता हुआ वह शाल्वके मंत्री द्युमान् के समीप पहुँचा। उसके रथ के समीप जाकर उसने प्रद्युम्न जी के रथ को खड़ा कर दिया। उस समय शूरवीरों में श्रेष्ठ महामंत्री द्युमान् यादव सेना का निर्दयता के साथ संहार कर रहा था। अपनी सेना का संहार होते देख कर श्रीकृष्ण नन्दन प्रद्युम्न को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने हँसते हुए द्युमान् से कहा—"अरे, नीच ! तू इन साधारण सैनिकों पर बाणों की वर्षा क्यों कर रहा है। तुझ में यदि कुछ सामर्थ्य है, तो मुझ से युद्ध कर।"

इतना सुनते ही द्युमान् के रोम रोम में कोप छा गया । उसने अन्य यादव वीरों से युद्ध करना बंद कर दिया। अब वह मुड़कर प्रद्युम्नजी के सम्मुख आ गया। प्रद्युम्नजी ने शत्रु को सम्मुख देख कर तुरन्त ही धनुष पर बाण चढ़ाये। और आठ बाणों से द्युमान् को वेध दिया। अत्यंत ही लाघव के साथ चार बाणों से चारों

घोड़ों को बाँध दिया, एक से सारथी को मार डाला। एक बाण से उसके रथ की विशाल ध्वजा काट दी और एक से उसके धनुष के टुकड़े टुकड़े कर दिये। फिर एक अर्ध चन्द्राकार बाण छोड़कर उसके सिर को भी धड़ से पृथक कर दिया। द्युमान् के मरते ही शत्रु सेना में खल बली मच गयी। बहुत से भय के कारण ही मर गये। इस प्रकार शत्रु सेना में तो हाहाकार मच गया और यादवों की सेना में आनन्द छा गया।

इधर प्रद्युम्नजी तो द्युमान् से युद्ध कर रहे थे, उधर गद, सात्यकि और साम्ब आदि यादव वीर शाल्व की सेना का संहार कर रहे थे। वे शाल्व के सौभ विमान पर बाणों की वर्षा कर रहे थे। उनके अमोघ बाणों से शाल्व पक्षीय असुर सैनिकों के सिर कट कट कर उसी प्रकार गिर रहे थे, जिस प्रकार नारियल के वृक्ष से टूट टूटकर फल गिर रहे हों। अथवा आँधी में बेल तथा कैथा के वृक्षों से पके फल झर रहे हों। सैनिकों के कटे सिरों से समुद्र भर गया। वे कछुओं की भाँति समुद्र के जल पर तैरने लगे। दोनों ही ओर युद्ध की पूरी तैयारियाँ थीं। कोई हटने का नाम भी नहीं लेता था। द्युमान् को मार कर प्रद्युम्नजी भी शाल्व से लड़ने लगे। उन्होंने एक अमोघ बाण धनुष पर चढ़ाया जो किसी भी प्रकार व्यर्थ होने वाला नहीं था। उस समय आकाश वाणी हुई—"हे वासुदेव नन्दन! तुम इस अमोघ बाण को मत चलाओ। यह बाण भी अमोघ है जिसके उद्देश्य से यह छोड़ा जाता है, उसे मारे बिना यह लौटता भी नहीं और इसकी मृत्यु भी आपके हाथ से नहीं है। यह तो श्रीकृष्ण भगवान् के हाथसे मरेगा। अतः आप ऐसा साहस न करें।" यह सुनकर प्रद्युम्नजी ने उस बाण को नहीं छोड़ा। शाल्व तुरन्त अपने सौभ विमान में चढ़कर समुद्र के पार चला गया।

इधर इन्द्रप्रस्थ से विदा होकर बलदेवजी के सहित भगवान्

द्वारका पुरी में आये। आकर उन्होंने जो देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पुरी की समस्त शोभा नष्ट हो गयी है। वहाँ के वन, उपवन उजड़ गये हैं। घर, गोपुर, द्वार टूटे फूटे पड़े हैं। स्थान स्थानपर मृतक पुरुष सड़ रहे हैं, सैनिकों के पहरे लगे हैं, नगरवासी भयभीत से प्रतीत होते हैं। उन्होंने कृतवर्मा से पूछा—"यह क्या बात है, यह हमारी द्वारका पुरी ही है या हम भूलकर किसी दूसरी पुरी में आ गये हैं। यह इतनी श्री हीन सी क्यों हो गयी है। किस शत्रु ने इस पर चढ़ाई की है ?"

सर्वज्ञ भगवान् के इन प्रश्नों को सुनकर कृतवर्मा ने आदि से अन्त तक शाल्व की चढ़ाई का वृत्तान्त बता दिया और यह भी जता दिया, कि वह अभी गया नहीं है। यहीं सेना का पड़ाव डाले पड़ा है।

यह सुनकर भगवान् को शाल्व पर क्रोध आया। उसी समय उन्होंने शाल्व को मारने का निश्चय किया। अपने बड़े भाई बलदेव जी से उन्होंने कहा—"आर्य ! शाल्व ने हमारा यह बड़ा भारी अपमान किया है, अब मैं उसे जीवित न छोड़ूँगा। उसे मारूँगा और उसके मय निर्मित सौभ विमान को भी तोड़ फोड़ कर छिन्न भिन्न कर दूँगा। आप चल कर नगर की रक्षा करें। भयभीत नगर वासियों को धैर्य बँधावें मैं तो तब तक नगरी में प्रवेश न करूँगा, जब तक शाल्व को मार न डालूँ तथा उसके सौभ विमान के खंड खंड न कर डालूँ।"

बलराम जी ने कहा—"अच्छी बात है, तुम जाकर उस दुष्ट शाल्व को मार आओ, मैं तब तक चलकर नगरी की देख रेख करता हूँ।" यह कह कर बलदेव जी नगरी में चले गये। उन्हें आये देखकर सब को सन्तोष हुआ।"

इधर श्यामसुन्दर ने अपने सारथी दारुक से कहा

—"दारुक देखो समुद्र पार यह दुष्ट शाल्वका सौभ विमान दिखायी देता है, तुम मेरे रथ को उसी के समीप ले चलो। यह सौभराज बड़ा मायवी है, अत्यंत खल प्रकृति का है। रुक्मिणी विवाह के समय यह भी कुंडिन पुर पहुँचा था और सब राजाओं की भाँति यह भी मुँह की खाकर वहाँ से लौटा था, सभी से यह हम से द्वेष मानता है। अब तो इसके परम मित्र लँगोटिया यार जरासन्ध और शिशुपाल मेरे द्वारा मारे गये। इससे इसने कुपित होकर मेरे परोक्ष में द्वारका-पुरी पर चढ़ाई कर दी है। इसे अपने सौभ विमान का बड़ा अभिमान है, आज मैं इसके अभिमान को चूर्ण कर दूँगा। इसके विमान को तोड़ दूँगा और इसे भी परलोक पठा दूँगा।"

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर दारुक ने तुरन्त गरुड़ की विशाल ध्वजा वाले भगवान्के रथ को सौभपति की सेना की ओर बढ़ाया। दूर से ही यादव वीरों ने भगवान् के रथ की विशाल गरुड़ की ध्वजा देखी तो वे सब के सब प्रेम में भरकर कोलाहल करने लगे शाल्व के सैनिकों ने भी पीताम्बर ओढ़े श्यामसुन्दर को चार शुभ्रवर्ण के घोड़ों वाले विशाल रथ में अपनी ही ओर आते देखा। भगवान् के रथ की घड़ घड़ाहट को ही सुनकर सब के छक्के छूट गये।

भगवान् को अपनी ओर आते देखकर शाल्व भी सम्हला। यद्यपि उसके प्रायः सभी सेनानायक नष्ट हो गये थे, फिर भी उसका युद्ध करने का साहस कम नहीं हुआ था। भगवान् के रथ को देखते ही उसने दारुक को लक्ष्य करके एक बड़ी भयङ्कर जाज्वल्यमान शक्ति छोड़ी। भगवान् ने देखा यह शक्ति तो आ-काश मंडल में विद्युत् के समान चमक रही है। यदि यह अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर आकर लगी, तब तो सारथी का अन्त ही कर देगी, यही सोचकर भगवान् ने बीच में ही बाणों के द्वारा उसके

सहस्रों टुकड़े कर दिये। वह व्यर्थ बन गयी। इस पर शाल्व को बड़ा क्रोध आया, भगवान् शक्ति को व्यर्थ करके ही शान्त नहीं हुए अपितु उन्होंने सोलह बाणों से शाल्व को भी वेध दिया। आकाश में विमान पर स्थित सोलह बाणों से बिंधा शाल्व ऐसा प्रतीत होता था, मानों सोलह किरणों से व्याप्त सूर्य नारायण अपने रथ में बैठे हों। शाल्व को वेध कर तथा बहुत से बाणोंसे उसके सौभ विमान को वेध कर भगवान् ने रण भूमि में गर्जना की। इससे शत्रु पक्ष के सभी लोग भयभीत हुए।

शाल्व ने भी समझा मेरी मृत्यु निकट ही है। मेरे जीवन का दीप बुझना ही चाहता है, अतः उसने सम्पूर्ण शक्ति बटोर कर भगवान् के ऊपर बाणों की वर्षा की। एक चोखा बाण भगवान्के बायें श्री हस्त में ऐसा लगा, कि उनके हाथ से दिव्य शार्ङ्ग धनुष छूटकर गिर गया। यह बड़े आश्चर्य की बात थी। ऐसा पहिले कभी नहीं हुआ था। आकाश में स्थित देव गण तथा रणाङ्गण में समुपस्थित समस्त यादव पक्षीय वीर हाहाकार करने लगे। वे समझ ही न सके, भगवान् क्या लीला कर रहे हैं। वे परम विस्मित से बने शाल्व की ओर निहार रहे थे।

तब शाल्व ने गर्व के साथ कहा—"कृष्ण तू बड़ा कपटी है। तैंने कुण्डिनपुर में हम सब के देखते देखते हमारे बन्धु रूप मित्र शिशुपाल की भावी पत्नी रुक्मिणी का छल से हरण किया था।"

भगवान् ने कहा—"बच्चूजी! छल से हरण नहीं किया था, किन्तु बल से किया था तुम सब तो वहाँ सदल बल समुपस्थित थे। तुम सबने मुझे पकड़ा क्यों नहीं?"

शाल्व बोला—"चोर सदा थोड़े ही पकड़ा जाता है। एक दो बार जब वह अपने कार्यमें सफल हो जाता है, तो फिर उसे अभिमान हो जाता है, कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ। मुझे कोई पकड़ नहीं सकता। मैं सबको ठग लूगा, इसी प्रकार तुझे भी अभिमान

होगया है, कि मैं अजेय हूँ। इसीलिये तैंने हमारे सखा शिशुपाल का भरी सभा में छल से असावधानावस्था में वध कर दिया। अब मैं उसे चूर चूर कर दूँगा। यदि तू रण से भाग न गया और इसी प्रकार वीर क्षत्रियों की भाँति डटा रहा तो आज तुझे तेरी करनी का फल चखा दूँगा। आज मैं अपने चोखे बाणों से तुझे उस पुर में पहुँचा दूँगा, जिसमें जाने पर फिर कोई उसी शरीर से लौट कर नहीं आता।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"देख, जिसकी मृत्यु निकट होती है, वह वायु विकार से ऐसे ही व्यर्थ की बातें बका करता है। उसी प्रकार तू बक रहा है। इससे प्रतीत होता है, अब तेरा अन्त समय निकट आ गया है। तेरे शिर पर काल मँडरा रहा है। बातें बनाना यह वीरता का काम थोड़े ही है। शूर वीर बड़ बड़ाते नहीं हैं, वे करके दिखाते हैं। यदि तुझ में कुछ वीरता है, तो मेरे सम्मुख डटा रह कुछ ही समय में प्रतीत हो जायगा। कौन बली है कौन निर्बल।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर शाल्व क्रोध में भर गया। भगवान् ने उसके ऊपर प्रहार किया। उसने भी भगवान् पर प्रहार किया। इस प्रकार दोनों ही ओर से भयङ्कर युद्ध होने लगा। अब दोनों के युद्ध का क्या परिणाम होगा, शाल्व कैसे मारा जायगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

क्षत विक्षत निज पुरी निहारी कहैं मुरारी।
आइ सौभपति अधम द्वारका सकल उजारी॥
बल पुर रक्षा हेतु भेजि रिपु सम्मुख आये।
उभय परसपर भिड़े क्रोधयुत वचन सुनाये॥
बाननि की बरसा करी, शत्रु मान मरदन करयो।
रिपु मारे शर श्याम कर, सारँग धनु करतैं गिरयो॥

शाल्व वध

(११५९)

जहार ते नैन शिरः सकुण्डलम्,
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो–
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥

(श्रीभा० १० स्क० ७८ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

सुर मुनि हाहाकार करें रिपु भये सुखारे।
शाल्व बढ़यो अभिमान गरब युत वचन उचारे॥
कृष्ण मारिकें तोइ मित्र ऋण आजु चुकाऊँ।
हँसि बोले भगवान् तोइ यम सदन पठाऊँ॥
मायापति सँग सौभपति, विविधि भाँति माया करत।
माया तैं वसुदेव रचि, काट्यो तिनको सिर तुरत॥

भगवान् जब जैसा रूप रख लेते हैं, तब तैसी ही क्रीड़ा करने लगते हैं। वे सर्वज्ञ हैं, सर्वस्वतन्त्र हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं इसलिये वे जो भी लीला करते हैं, वही सुन्दर प्रतीत होने लगती

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने चक्र सुदर्शन से ही महामायावी शाल्व के किरीट कुंडल मंडित मस्तक को उसी प्रकार काट डाला, जिस प्रकार पूर्व काल में देवेन्द्र ने अपने वज्र द्वारा वृत्रासुर का शिर काटा था। यह देखकर शाल्व पक्ष के सभी लोग 'हाहाकार करने लगे।"

है। उसी में उनकी ईश्वरता व्यक्त हो जाती है। मोह रहित ... पर भी वे मोह में फँसे से दीखते हैं। माया के पति होने पर वे माया मोहित से प्रतीत होने लगते हैं, उनकी लीला ... है। वे जो भी करते हैं, वही सत्य है, वह शिव है वही सुन्दर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् श्री कृष्ण के साथ सौभपति युद्ध कर रहा था। वह अपने विमान में बैठा आकाश में उड़ रहा था, श्यामसुन्दर अपने गरुड़ की ध्वजा वाले रथ पर चढ़कर पृथिवी पर से युद्ध कर रहे थे। भगवान् ने नीचे से ही एक शक्ति उसके कंधों पर मारी। उस शक्ति से लगते ही उसकी समस्त नसें ढीली हो गयीं। मुँह से रक्त बहने लगा और वह थर थर काँपने लगा। उसने समझ लिया मैं साधारण युद्ध में श्रीकृष्ण से न जीत सकूँगा। इसे माया से जीतना चाहिए।"

भगवान् की गदा तो उसे आहत करके लौट गयी और वह तुरन्त वहाँ का वहीं अन्तर्धान हो गया। अब वह विचित्र माया रचने लगा। उसने अपनी माया से एक ऐसा पुरुष बनाया, जो वसुदेवजी के अन्तरङ्ग सेवक के सदृश था। उसने रणभूमि में खड़े भगवान् वासुदेव को शिर से प्रणाम करके रोते रोते कहा—"प्रभो ! मुझे भगवती देवकी ने एक अत्यंत ही आवश्यक दुःखमय समाचार लेकर आपके समीप भेजा है।" यह कहकर वह फूट फूट कर रोने लगा।

— भगवान् ने कहा—"भाई, बताओ तो सही, बात क्या है, तुम इतने रो क्यों रहे हो ? माताजी ने मेरे लिये क्या सन्देश भेजा है। तुम मुझे शीघ्र ही बताओ।"

उस माया निर्मित मानुष ने कहा—"हे महाबाहो ! हे पितृवत्सल ! बात कहने योग्य हो, तो कहूँ भी, समाचार अत्यंत ही दुःख पूर्ण है। आपके पूजनीय पिताजीको यह दुष्ट शाल्व उसी प्रकार निर्दयता पूर्वक पकड़कर बाँध ले गया है, जिस प्रकार पशुओं का

ा करने वाला वधिक पशुओं को बाँध कर ले जाता है।"

इस कर्णकटु दुखःद समाचार को सुनते ही भगवान् प्राकृत ापों की सी लीला करने लगे। वे अत्यंत ही शोकाकुल से बन े। वे साधारण मनुष्यों के समान स्नेह पूर्वक अपने आप ही हने लगे—' देखो, भवितव्यता कैसी प्रबल है। अपने बड़े भाई लदेव जी को मैंने इसीलिये प्रथम पुरी में भेज दिया था, कि वे हाँ रह कर पुरी की रक्षा करें, सबकी देख भाल करें। मैं यहाँ त्रु से लड़ूँगा। मेरे बड़े भाई को सुर, असुर, गन्धर्व तथा न्यान्य देव उपदेव भी नहीं जीत सकते, फिर मनुष्यों की तो त ही क्या? ऐसे मेरे अजेय भाई को जीतकर शाल्व मेरे पिता कैसे पकड़ लाया। क्यों कि उनके रहते तो किसी का ऐसा हस हो नहीं सकता। मेरे भाई प्रमादी भी नहीं हैं, वे सदा वधान रहते हैं, उन्हें इस अल्पवीर्य शाल्व ने कैसे जीत लिया। से पिताजी को पकड़ ले गया?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् इस प्रकार विलाप र ही रहे थे, कि इतने में ही शाल्व ने माया से एक वासुदेवजी के सदृश पुरुष बनाया और उसे बाँधे हुए आकाश में श्यामसुन्दर के सम्मुख पुनः प्रकट हो गया और कहने लगा—"हे बालिश! देख तू इन्हें जानता है? ये तेरे पिता वसुदेव हैं। हमने सुना है, तू बड़ा पितृ वत्सल है। तेरा जीवन पिता के ही हेतु है। मैं इसे तेरी पुरी से बलात्कार पकड़ लाया हूँ, इस तेरे बाप को मैं तेरे सम्मुख ही मारूँगा। तुझ में शक्ति हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, पुरुषार्थ तथा साहस हो तो तू अपने पिता को मरने से बचाले।"

ऐसा कहकर उस मायावी ने माया निर्मित वसुदेव जी का सिर अपने खड्ग से धड़ से पृथक कर दिया। सिर काट कर वह कटे सिर और धड़ को लेकर अपने विमान पर हँसता हुआ

बैठ गया।

सर्वज्ञ स्वयं सिद्ध ज्ञान स्वरूप मायापति भगवान् नर नाट्य करने लगे। अपने पिता के वध को देखकर वे दो घड़ी के लिये शोक सागर में मग्न हो गये। वे प्राकृत पुरुषों के सदृश विलाप करने लगे। कुछ देर में भगवान स्वस्थ हुए और फिर सब रहस्य समझ गये। उन्होंने जान लिया यह सब शाल्व निर्मित माया है। माया बहुत समय तक टिकती नहीं। माया निर्मित वस्तु अल्प काल में ही लुप्त हो जाती है। भगवान् ने देखा कि न वहाँ दूत है, न पिता जी का कटा शरीर है, जागने पर जैसे स्वप्न की समस्त वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं, वैसे ही वहाँ की वे वस्तुएँ विलीन हो गयीं। अब तो उन्हें शाल्व के ऊपर बड़ा क्रोध आया, उन्होंने उसे मारने का निश्चय कर लिया।

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! शोक, मोह, राग तथा भय आदि तो माया बद्ध जीवों को हुआ करते हैं। ज्ञान वैराग्य से परिपूर्ण अखण्ड ऐश्वर्य वाले श्रीकृष्ण चन्द्र में ये सब भाव कैसे हो सकते हैं। भगवान् मायिक पदार्थों को देखकर माया मोहित कैसे हो सकते हैं, वे दो घड़ी के ही लिये सही साधारण पुरुषों के समान शोक सागर में कैसे निमग्न हो सकते हैं? जिन भगवान् की चरण सेवा के द्वारा आत्म विद्या प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मुनिगण अनादि अविद्या जनित विपरीत ज्ञान का सर्वदा के लिये नाश करके अखण्ड ऐश्वर्य और अनन्त आत्म वैभवको प्राप्त करते हैं, उन शरणागत प्रतिपालक भक्तवत्सल सज्जन पुरुषोंके एक मात्र गति पर ब्रह्म परमात्मा श्री हरि को मोह कैसे हो सकता है। यह तो असंभव बात है।" यह तो परस्पर विरोधी बातें हैं। अज्ञान तो माया जनित है। भगवान् तो माया के पति हैं, वे शाल्व की माया निर्मित वस्तुओं को प्रथम ही क्यों नहीं जान गये?"

इस पर सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! कुछ मुनियों का सा ही मत है, कि भगवान् को उस समय मोह हो गया। किन्तु म इस बात को नहीं मानते। भगवान् तो माया मोह से रहित ।। फिर भी माया में सब कुछ सम्भव है। जैसा बाना पहिने मा ही आचरण करे। भगवान् सब जानते हुए भी नर लीला खा रहे हैं। जब मनुष्य का रूप बनाया है, तो मनुष्यों में होने ाली सब दुर्बलता भी वे लीला के लिये प्रकट करते हैं। जरा-न्ध उनका क्या बिगाड़ सकता था, किन्तु नरलीला दिखाने को पनी पैतृक राजधानी त्यागकर समुद्र के बीच में आ बसे और णछोड़ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसलिये आप इस विषय में केसी प्रकार की शंका न करें।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी! आपका कथन सत्य ही है, भगवान् जो करें वही सत्य है वही कमनीया क्रीड़ा है, अच्छा तो आगे क्या हुआ, आगे की कथा कृपा कर सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ, अच्छी बात है महाराज! अब मैं आप को आगे की ही कथा सुनाता हूँ। भगवान् को सम्मुख देखकर बड़े वेग से शाल्व उन पर झपटा। वह निरन्तर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा कर रहा था। भगवान् ने अपनी कौमोदिकी गदा से शत्रु को रौंदा। भगवान् की गदा लगते ही उसका दृढ़ कवच टूट गया। हाथ से धनुष टूट कर छूट गया। भगवान् ने उछल कर सौभ विमान पर भी प्रहार किया। भगवान् की गदा के प्रहार से वह मायासुर का बनाया विमान टूट फूट गया। उसके सहस्रों टुकड़े हो गये और वह चकनाचूर होकर समुद्र में बिखर सा गया।

विमान के टूटते ही शाल्व उसमें से तुरन्त कूद पड़ा। वह अत्यंत क्रोध में भरा हुआ भगवान् की ओर गदा लेकर दौड़ा। भगवान् तो पहिले से ही सचेष्ट थे अपनी ओर आते हुए उस

अत्याचारी को देखकर उन्होंने एक अर्ध चन्द्राकार बाण छोड़ उसकी गदायुक्त बाहु, को काट दिया । हाथ कट जाने से

तनिक भी विचलित ,नहीं हुआ । वह और भी क्रोध के स भगवान् की ओर चला । तब श्री हरि ने अपने सुदर्शन चक्र

[उ]ठाया। वह प्रलय कालीन सूर्य के समान दिखाई दे रहे थे। [उ]नकी सहस्रों किरणें चमक रही थीं सहस्रों सूर्यों के सदृश उनका [प्र]काश था। भगवान् वासुदेव ने उसी दिव्य चक्र के द्वारा महा-[म]ायावी शाल्व के किरीट कुण्डल मण्डित मस्तक को धड़ [स]े पृथक कर दिया। शाल्व का सिर कटते ही शत्रु सेना में हाहा[क]ार मच गया। सैनिकों का साहस छूट गया। वे रण भूमि को [छ]ोड़ कर भगने लगे।

इधर यादवों की सेना में आनन्द का सागर उमड़ने लगा। [आ]काश से सुरगण स्वर्गीय सुमनों की वर्षा करने लगे। उस [श]ाल्व से और उसके सौभ विमान से सभी दुखी थे। अतः [श]ाल्व के मारे जाने पर तथा विमान के चूर चूर हो जाने पर [स]भी को परम हर्ष हुआ। बात की बात में यह समाचार सर्वत्र [फै]ल गया। भगवद् भक्तोंको सुर द्रोही शाल्व के मारे जाने पर प्रसन्नता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब शाल्व के मारे जाने पर उसका मित्र दन्तवक्त्र जैसे कुपित होकर द्वारका आया और भगवान ने जैसे उसका वध किया इस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

नरलीला कछु करी फेरि माया सब जानी।
सौभ करन विध्वंस गदा श्रीहरि ने तानी॥
मारी, गिरयो विमान टूटिकें चूर भयो सब।
लखि हरि सम्मुख शाल्व चक्रतें सिर काटयो जब॥
हाय हाय अरि दल मची, भये मुदित यादव अभ
जय जय सुर नर मुनि कहहिं, सुघर श्याम जीत्य

दन्तवक्र और विदूरथ वध

(११६०)

नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात् ॥ *
(श्रीभा० १० स्क० ७७ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

शाल्व और शिशुपाल मरन सब जग महँ छायो ।
बदलो लैवे दन्तवक्र द्वारावति आयो ॥
रनके बाजे बजे उभय दल चले हरषि पुनि ।
मामा फूफी बन्धु लड़ें लखि विहँसत ऋषि मुनि ॥
गदा श्याम शिर मारि खल, हँस्यो न हरि विचलित भये ।
तानि गदा कौमोदकी, झप्पा असुरके ढिँग गये ॥

यह सन्सार आशा पर ही टिका हुआ है। जब तक सांसा तब तक आशा, यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है। वैद्य, चिकित्सक जानते हैं, यह रोग असाध्य है, फिर भी इसी आशासे चिकित्सा करते हैं, संभव है बच जाय। व्यापारमें, जूएमें बार बार हार

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शाल्वके मरनेपर आकाशमें देवताओंकी दुन्दुभियोंका शब्द होने लगा। इसी समय दन्तवक्त्र अपने सखा शिशुपाल तथा शाल्व आदिका बदला लेनेके निमित्त अत्यंत कुपित होकर द्वारकाकी ओर चला।"

होती है, फिर भी उसमें इसी आशासे चिपटे रहते हैं, सम्भव है अबके लाभ हो जाय। सैनिक देखते हैं अमुक वीरके सम्मुख जो जाता है वही हार जाता है, फिर भी दूसरे इस आशासे उससे लड़ने जाते हैं कि मैं जीत ही लूँगा। यदि मनुष्यको आशा न रहे, तो वह किसी भी काममें प्रवृत्त न हो। प्रवृत्तिका मूल कारण आशा है, इसीलिये वैराग्यवान् पुरुष आशाको ही परम दुःख और नैराश्यको ही परमसुख बताते हैं। जीव जानते हैं, विषयोंके भोगसे कोई सुखी नहीं हुआ है, फिर भी वह विषयोंमें इस आशा से प्रवृत्त होता है कि किसीको चाहें सुख न मिला हो मुझे तो सुख मिल ही जायगा। असुर प्रकृतिके लोग जानते हैं कि भगवान्ने हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष रावण तथा कुम्भकरण जैसे विश्वविजयी वीरोंको मार दिया है, इनसे आज तक किसीने विजय प्राप्त नहीं की। फिर भी असुर नहीं मानते उनसे लड़नेको आते हैं।

सूतजी कहते हैं—" मुनियो ! जब शाल्व मारा गया और उसका मय निर्मित सौभ विमान भी नष्ट हो गया, तो यादवोंको तथा समस्त सुर मुनियोंको बड़ा हर्ष हुआ। यह समाचार सर्वत्र फैल गया।

यह मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि भगवान्की पाँच बूआएँ थीं। सबसे बड़ी बूआ कुन्तीके तो पांडव पुत्र थे जो भगवान्को अपना सर्वस्व समझते थे। श्रुतश्रवाका विवाह चेदिदेशके राजा दमघोष-के साथ हुआ जिसके पुत्र शिशुपालको भगवानने धर्मराजकी सभामें मार डाला। एक बूआ श्रुतदेवा थी, जिसका विवाह करूष देशके राजा वृद्धशर्मासे हुआ था। उसका पुत्र दन्तवक्र था। सनकादिके शापसे जय विजयको तीन जन्मोंमें आसुरी योनिका शाप था। दो जन्मोंमें तो ये सगे भाई हुए। हिरण्याक्ष हिरण्य-कशिपु तथा रावण कुम्भकर्ण दोनों जन्मोंमें दोनों एक माँ के उदरसे हुए। अब इस तीसरे जन्ममें ये दोनों पृथक् पृथक्

स्थानोंमें उत्पन्न हुए। यद्यपि ये सगे भाई नहीं हुए किन्तु मौसेरे भाई हुए। कहावत है "चोर चोर मौसेरे भाई" भगवान्‌की एक बूआका पुत्र तो शिशुपाल हुआ दूसरी बूआका दन्तवक्र हुआ। अब इस तीसरे जन्ममें भगवान्‌के हाथों मर कर उनको पुनः वैकुण्ठकी प्राप्ति होनी थी। जन्म चाहें कहीं भी क्यों न हो, पूर्वजन्मके संस्कार बने ही रहते हैं। पूर्वजन्ममें जिनके साथ शत्रुता मित्रता रहती है उसका संस्कार दूसरे जन्मोंमें भी अवशिष्ट रहता है। इसीलिये शिशुपाल और दन्तवक्रमें बड़ा भारी प्रेम था। शिशुपालका मित्र शाल्व था। मित्रका मित्र होनेके नाते दन्तवक्र भी उससे स्नेह रखता था।

जिस समय शिशुपालका भगवान्‌ने वध किया, उस समय वहाँ दन्तवक्र उपस्थित नहीं था। जब उसने सुना कि श्रीकृष्णने भरी सभामें मेरे मौसेरे भाई शिशुपालको मार डाला है, तब तो वह अत्यंत कुपित हुआ। उसने जब सुना कि श्रीकृष्ण अब इन्द्रप्रस्थसे द्वारका चले आये हैं, तो वह भी अपने मित्र तथा भाईका बदला लेने द्वारकाकी ओर चला। वह जब द्वारकाके समीप ही पहुँचा था कि उसने सुना—"श्रीकृष्णने तो शाल्वको भी मार डाला और उसके मय निर्मित सौभ विमानको भी गदासे चूर चूर कर डाला।" तब तो उसका क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने सोचा—"यह श्रीकृष्ण बड़ा छली बली है इसने मेरे मित्र शिशुपालको मार डाला। शाल्व, पौंड्रक तथा जरासन्ध आदि जितने हमारे पक्षके शूरवीर राजा थे, उन सबको इसने असावधानीमें छलसे परलोक पठा दिया। अब मैं श्रीकृष्णका वध करके अपने दिवंगत मित्रोंका प्रिय कार्य करूँगा।" यही सोचकर वह दुर्बुद्धि अत्यंत क्रोधमें भरकर हाथमें गदा लेकर द्वारकामें आया। उसके सचिवोंने मित्रोंने बहुत कुछ कहा कि आप सेना सजाकर द्वारका पर चढ़ाई करें, किन्तु उसे तो अपने बलका

अत्यधिक अभिमान था, अतः उसने कहा—"सेना सजाकर निर्बल जाते हैं, मैं तो अकेला ही जाकर कृष्णको मार आऊँगा।" यह कहकर वह अकेला पैदल ही द्वारकाकी ओर दौड़ा। वह उसी समय भगवान्को दिखाई दिया, जब वे शाल्वको मारकर द्वारका पुरीकी ओर रथमें बैठकर जा रहे थे। दूरसे ही उसने भगवान्के रथकी विशाल गरुडके चिह्न वाली ध्वजा देखी, अतः उसने वहींसे चिल्लाकर कहा—"कृष्ण! अरे, ओ छलिया! खड़ा तो रह कहाँ भागा जा रहा है।"

भगवानने देखा, हाथमें गदा लिये हुए, अपने पैरोंसे पृथिवी-को कँपाता हुआ युद्धकी इच्छासे पैदल ही दन्तवक्र उनकी ओर दौड़ा चला आ रहा है। उन्होंने सोचा—"जब शत्रु पैदल है तो मुझे भी उससे पैदल ही युद्ध करना चाहिए। रथमें बैठकर पदातिसे युद्ध करना रणनीतिके विरुद्ध है।" यही सोचकर भगवान् तुरंत रथसे कूद पड़े। उनके हाथमें शाल्वके रक्तसे सनी कौमोदकी गदा थी। उन्होंने दौड़कर आते हुए दन्तवक्रको रोक लिया, जिस प्रकार सिंह सम्मुख आते हुए गजराजको रोक लेता है, अथवा किनारा जैसे समुद्रके वेगको रोक लेता है। भगवान्ने हँसकर कहा—"कहो, भैयाजी कहाँ जा रहे हो?"

यह सुनकर दन्तवक्र गदाको तानता हुआ क्रोधमें भरकर कहने लगा—"कृष्ण! तू मेरे सगे मामाका लड़का है। सम्बन्धी और मातृ पक्षका होनेसे तू मेरे लिये अवध्य है, करूँ क्या. तेरा अभिमान आवश्यकतासे अधिक बढ़ गया है। तेरे अपराध सीमाको पार कर गये हैं। तू मेरे भाई शिशुपालकी स्त्रीको बल-पूर्वक भगा ले गया। मेरे मित्र जरासन्धको तैंने छलसे मरवा डाला। मेरे मौसेरे भाई अपनी फूआके लड़के शिशुपालको तैंने भरी सभामें मार डाला। उसके परम मित्र मेरे स्नेही शाल्वको तैंने अभी अभी मार दिया। मैं तेरे सम्बन्धकी बातें बहुत दिनोंसे

सुनता चला आता था, आज बड़े भाग्यकी बात है, जो तू मेरे सम्मुख आ गया। अब तू अपने देवी देवताओंको मनाले। तैंने मेरे सब मित्रोंको मार डाला है और मुझे भी मारनेका प्रयत्न कर रहा है। तैंने बड़े बड़े अपराध किये हैं। अब मैं तुझे छोड़ नहीं सकता। आज मैं तेरा सब कार्य समाप्त कर दूँगा। तुझे अपनी वज्र सदृश गदासे मार डालूँगा। मैं अब इस बातका संकोच न करूँगा कि जिस उदरसे मेरी माता उत्पन्न हुई है उसीसे तेरा पिता उत्पन्न हुआ है, इससे मैं तेरे ऊपर दया कर दूँ। देख, रोग तो शरीरसे ही उत्पन्न होता है, उसे भी कड़वी कसैली ओषधियों से शांत करते हैं। कीड़े शरीरसे ही उत्पन्न होते हैं, फिर भी उन्हें अनिष्टकारी समझकर मार देते हैं। तू भी हमारे मातृकुलमें रोग है, कलङ्कके सदृश है। हे मतिमंद ! आज मैं तुझे अपनी वज्र तुल्य गदासे मार डालूँगा। तुझे यदि मैं नहीं मारता तो मैं मित्र-द्रोही कहलाऊँगा। अतः तुझे मारकर मैं अपने मित्रोंके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसा कहकर वह महाबलशाली सहसा भगवान्‌के ऊपर गदा घुमाता हुआ दौड़ा और उसने उन्हें उत्तेजित करते हुए उनके मस्तक पर गदा जमा ही तो दी। गदा मारकर उसने गर्जना की। यद्यपि भगवान्‌के मस्तकपर इसने पूरी शक्तिसे प्रहार किया था, किन्तु भगवान् उससे इसी प्रकार विचलित नहीं हुए जिस प्रकार फूलकी छड़ी मार देनेसे गज-राज विचलित नहीं होता। गदाके प्रहारको सहकर वे बोले—"भैयाजी ! तुमने तो प्रहार कर लिया अब मेरा भी

सहो।" यह कहकर बिना उसके उत्तरकी प्रतीक्षा किये भगवान्ने उसके वक्षःस्थलमें अपनी कौमोदकी गदासे प्रहार किया। भगवान्की गदा लगते ही उसका हृदय फट गया, रक्तकी वमन करता हुआ कुछ काल तो हुच हुच करता रहा अन्तमें भगवान्की ओर एक टक निहारता हुआ वह प्राणहीन हो गया। उसके हाथ पैर फैल गये, केश बिखर गये और अस्त व्यस्त भावसे धूलिमें लोटने लगा। जिस प्रकार शिशुपालके मरनेके समय उसके शरीरसे ज्योति निकल कर भगवान् वासुदेवके शरीरमें समा गयी थी, उसी प्रकार इस दन्तवक्रके मुखसे निकली हुई सूक्ष्म ज्योति सभी लोगोंके देखते देखते अत्यंत ही विचित्र भावसे भगवान्के श्रीअङ्गमें समा गयी। इस पर सभी भगवान्की जय जयकार करने लगे। तीनों लोकोंमें हर्ष छा गया।

जिस समय दन्तवक्र अकेला ही गदा लेकर द्वारकाकी ओर चला था, उसी समय भ्रातृस्नेहसे परिप्लुत उसका भाई विदूरथ भी उसके पीछे पीछे आ रहा था। दन्तवक्र प्रथम पहुँच गया था, जब वह भगवानकी गदासे मर गया, तब यह विदूरथ पहुँचा। अपने भाईकी मृत्यु सुनकर तथा भ्रातृशोकसे विह्वल होकर विदूरथ भी भगवान्को मारनेको दौड़ा। जैसे पतंगा अग्निकी लपटको देखकर दौड़ता है और अन्तमें उसीमें जलकर भस्म हो जाता है, यही दशा विदूरथकी हुई। वह एक हाथमें ढाल और दूसरीमें करवाल लेकर लम्बी लम्बी श्वासोंको छोड़ता हुआ भगवान्के ऊपर झपटा।

भगवान्‌ने सोचा अब इसके ऊपर गदा क्या चलाई जाय, उन्होंने चक्रसुदर्शनको आज्ञा देदी। चक्रने उसका किरीट कुंडल मंडित मस्तक धड़से पृथक् कर दिया। अब तो यादवोंके हर्षका ठिकाना ही नहीं रहा। सभी अपनी इस विजय पर अत्यंत हर्षित हुए।

अब तो कोई आनेवाला शत्रु नहीं रहा। शिशुपाल राजसूय सभामें मारा गया, विमानसहित शाल्व यहाँ नष्ट हुआ। दन्त-वक्र और विदूरथ बदला लेनेके लिये प्रयत्न करनेमें ही मारे गये। सबको मारकर शङ्ख बजाकर अब भगवान् द्वारकापुरीकी ओर पधारे। पृथिवी पर सभी लोग उनकी स्तुति कर रहे थे, आकाशसे देवतागण पुष्प बरसा रहे थे। पीछे पीछे सूत, मागध, बन्दी, ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, उरग, पितृगण, अप्सरा, यक्ष, किन्नर और चारणादि उनका यशोगान करते जाते थे। भगवान् मंद मंद मुसकराते हुए तथा विजय गायनोंको श्रवण करते हुए सेवकोंसे घिरे हुए चले। यादवोंने आज द्वारावतीको भली भाँति सजाया था। उस सजी सजाई पुरीमें प्रभुने प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश किया। विजयी भगवान्‌के दर्शन करके नगरके नर नारी अत्यधिक प्रमुदित हुए। स्त्रियोंने उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की। कन्याओंने उनको मालायें पहिनायीं तथा उनके मस्तकपर दधि कुंकुमका टीका लगाया, अक्षत चिपकाये। भगवान् सबका यथोचित स्वागत सम्मान करते हुए महलोंमें आ गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार योगेश्वरोंके भी

ईश्वर जगद्‌पति भगवान् वासुदेवने अनेकों दिव्यातिदिव्य लीलायें कीं। अज्ञानी लोग उन्हें कहीं हारते देखते कहीं जीतते। वास्तवमें वे न कभी किसीसे हारते हैं न किसीको जीतते हैं। सबके स्वामी तो एक मात्र वे ही हैं। क्रीड़ा करनेके लिये ऐसे रूप बना कर लीला करते हैं। अब जिस प्रकार बलदेवजी कुछ अनमने होकर तीर्थ यात्राके लिये गये हैं। उस प्रसङ्गका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मारी हिय महँ गदा गिरयो मरि अति अभिमानी।
तनुतैं निकसी ज्योति श्याम तनु माहिँ समानी॥
तीन जनम जय विजय भये खल हरिने मारे।
शाप मुक्त अब भये तुरत वैकुण्ठ सिधारे॥
दन्तवक्रको बन्धु लघु, आइ विदूरथ रन करयो।
सोऊ हरिके हाथ तैं, समर माहिँ सम्मुख मरयो॥

बलदेवजीकी महाभारत युद्धमें तटस्थता

(११६१)

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पांडवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥ *
(श्रीभा० १० स्क० ७८ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

विजयी बनि घनश्याम पुरी अपनी महँ आये ।
सुन्यो द्यूत महँ धरमराज कौरवनि हराये ॥
राजपाट सब हारि बने पांडव वनवासी ।
पहुँचे वन महँ तुरत सुनत अच्युत अविनाशी ॥
दई सान्त्वना सबनि कूँ, वनको प्रन पूरन भयो ।
दुरजोधनने तऊ नहिँ, राज पांडवनि फिरि दयो ॥

मनुष्यको उस समय बड़ा धर्मसङ्कट पड़ जाता है, जब लड़ने वाले दोनों पक्षके लोग अपने सगे सम्बन्धी हों। एक कोई अन्य हो और एक अपना सगा सम्बन्धी हो, तो यह स्वाभाविक ही है कि सगे सम्बन्धीका पक्ष लिया जाता है। जब दोनों ही समान रूपसे अपने सम्बन्धी हों, तब मनुष्य किङ्कर्तव्यविमूढ़ बन जाता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कौरव और पांडवोंको युद्धके लिये उद्यत देखकर निरपेक्ष उदासीन रहनेके विचारसे बलदेवजी तीर्थयात्राके व्याजसे द्वारकासे चल दिये ।"

है। ऐसे समय कुछ लोग तो ऐसा करते हैं, जिनसे अधिक प्रेम होता है, उनकी ओर हो जाते हैं। दूसरोंसे शत्रुता कर लेते हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि दोनोंमेंसे किसीका भी पक्ष नहीं लेते तटस्थ हो जाते हैं। किसी पक्षका समर्थन न करके वे मौन हो जाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि यह जानते हुए भी कि एक पक्ष अन्याय कर रहा है फिर भी लोभ, मोह, सङ्कोच, अथवा अन्य किसी कारणसे अन्यायी पक्षकी ही सहायता करते हैं। मनसे चाहे विपक्षियोंका ही कल्याण चाहें, किन्तु सहायता इसी पक्षकी करते हैं। कुछ ऐसे न्यायप्रिय निर्भीक पुरुष होते हैं कि वे सम्बन्धका, प्रेमका, लोभ मोह अथवा शील संकोचकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते। वे तो जिधर धर्म देखते हैं उन्हींका पक्ष लेते हैं। उन्हींकी सहायता करते हैं। वे न्यायके लिये–धर्मके लिये–सब कुछ कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् शाल्व तथा विदूरथ आदिको मारकर द्वारकापुरीमें आये। वहाँ आकर उन्होंने सुना, पाडव द्यूतमें सर्वस्व हारकर वनमें चले गये हैं और वहाँ वनवासियोंकासा जीवन बिता रहे हैं। इस समाचारको सुनते ही भगवान तुरत रथमें बैठकर पाडवोंसे मिलनेके निमित्त उस काम्यक महावनमें गये जहाँ पाडव रहते थे। भगवान्ने पाडवोंकी ऐसी दशा पर दु ख प्रकट किया और उन्हें बारह वर्ष धर्मपूर्वक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवासकी सम्मति दी। पाण्डवोंने बारह वर्ष तक वनमें वास किया और एक वर्ष राजा विराटके यहाँ अज्ञातवासमें रहे। कौरव अज्ञातवासके समय पाडवोंको बड़ी तत्परताके साथ चारों ओर खुजवा रहे थे, जिससे वे पुनः बारह वर्ष वनवास और एक वष अज्ञात वास करें। किन्तु पाडव तो इस प्रकार वेष बदलकर रहते थे कि उन्हें कोई पहिचान ही नहीं सकता। जब कौरवोंने विराटकी गौओंको जाकर

हरण किया, तब बृहन्नला बने हुए अर्जुनने विराटपुत्र उत्तरका सारथ्य किया। कुमार उत्तर कौरवोंको इतनी भारी सेनाको देख कर डर गया। तब अर्जुन समस्त कौरव पक्षीय वीरोंको युद्धमें मूर्छित करके गौओंको छुड़ा लाये। उस समय सबने जान लिया कि बृहन्नला सव्यसाची अर्जुन ही हैं। उसने कहा—"मैंने एक वर्ष अज्ञात वासके पहिले ही इन्हें पहिचान लिया, इसलिये इन्हें पुनः बारह वर्ष वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास करना चाहिये।" पांडवोंका कहना था कि अज्ञातवासमें हमें एक वर्ष अधिक हो गया है। इसी पर बात बढ़ गयी। दुर्योधनने स्पष्ट कह दिया—"मैं बिना युद्धके एक सूईकी नोंकके बराबर भूमि दूँगा।" बीचमें भगवान्ने पड़कर ऊपरसे लोक दिखावेको बहुत चाहा कि कौरव पांडवोंमें युद्ध न हो। वे धर्मराजके दूत बनकर भी हस्तिनापुर गये। दुर्योधनको बहुत समझाया, किन्तु वह किसी भी प्रकार नहीं माना। उसने तो यहाँ तक प्रयत्न किया कि हत्याकी जड ये श्रीकृष्ण ही हैं, इन्हींके बलपर पांडव उछल कूद कर रहे हैं। यदि इन्हें पकड़कर कारावासमें बन्द कर दिया जाय, तो पांडव ठण्डे पड जायँ, फिर वे युद्धका नाम भी न लें।" किन्तु वह ऐसा कर नहीं सका।

श्रीकृष्ण भगवान् ऊपरसे ही दौड धूप कर रहे थे। लोक दिखावेके ही निमित्त सन्धिका उद्योग कर रहे थे। उनकी आन्तरिक इच्छा यही थी कि युद्ध हो, जिससे पृथिवीका बढ़ा हुआ भार उतर जाय। यदि वे मनसे चाहते तो युद्ध हो ही नहीं सकता था। उनकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता। जब दुर्योधनने सन्धिके प्रस्तावको ठुकरा दिया, तब यही निश्चय हुआ, क्षत्रिय धर्मकी शरण ली जाय। युद्धमें शत्रुओंको मारकर अपना गया हुआ राज्य लौटाया जाय। इसलिये पांडव युद्धकी तैयारियाँ करने लगे। अपने पक्षके राजाओंको युद्धके लिये निमंत्रण भेजने

लगे। इधर दुर्योधन पहिलेसे ही सावधान था। उसने सभी राजाओंके समीप सेना सहित युद्धमें आनेके लिये निमंत्रण भेजा। भगवान्‌ने देखा कि युद्ध किसी प्रकार रुक नहीं सकता, तो द्वारका चले गये। नियमानुसार अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णजीको युद्धके लिये निमंत्रण देने द्वारका गये। यह बात जब दुर्योधनने सुनी तो वह भी अत्यंत शीघ्रगामी घोड़ोंके रथपर चढ़कर द्वारका गया और अर्जुनके पहुँचनेके प्रथम ही पहुँच गया। भगवान् अपने शयनागारमें सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने बैठ गया और भगवान्‌के उठनेकी प्रतीक्षा करने लगा। उसी समय अर्जुन भी पहुँच गये। उन्होंने जब सुना कि दुर्योधन पहिले पहुँच गया है, तो वे भी शीघ्रता पूर्वक भीतर गये। वहाँ उन्होंने देखा—"भगवान् अभी शयन कर रहे हैं, उनके सिरहाने अकड़ा हुआ दुर्योधन बैठा है, तब आप भी जाकर भगवान्‌के चरण कमलोंकी ओर बैठ गये और उन्हें शनैः शनैः सुहलाने लगे।

अब भगवान्‌ने अङ्गड़ाई ली। नेत्रोंको मलते हुए उठे और चरणोंके समीप अर्जुनको देखकर हँसते हुए बोले—"पांडुनन्दन! तुम कब आये?"

इतनेमें ही शीघ्रतासे दुर्योधन बोला—"वासुदेव! देखो, मैं पहिले आया हूँ, मेरा ध्यान रखना।"

अब भगवान्‌ने पीछे मुड़कर देखा, सिरहाने अकड़ा हुआ दुर्योधन बैठा है। आप शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए बोले—"अहा! महाराज दुर्योधन भी पधारे हैं। धन्यवाद! धन्यवाद! कहिये कैसी कृपा की। कब आये, मुझे तो पता ही नहीं। आपने मुझे जगाया क्यों नहीं।"

दुर्योधनने अभिमानमें भरकर कहा—"देखिये, वासुदेव! आप धर्मात्मा हैं। क्षत्रियोंके सदाचारको आप भली भाँति जानते हैं। आप हमारे और पांडवोंके समान संबंधी हैं। आपके

लिये हम दोनों ही एक समान हैं, क्यों हैं कि नहीं ?"

भगवान्ने हँसते हुए कहा—"समान ही नहीं आप हैं। आपतो हमारे सगे सम्बन्धी हैं। हाँ, तो क्या आज्ञा है ?"

दुर्योधनने कहा—"हमारी आज्ञा क्या है आपको पालन करना चाहिये। उदासीन राजाओंके पास दोनों पक्षोंमेंसे जिस पक्षका प्रथम निमंत्रण आ जाय, उसी पक्षकी ओरसे लड़ना चाहिए। क्यों यह सदाचार है कि नहीं ?"

भगवान्ने कहा—"हाँ, अवश्य यही सदाचार है। प्रथम निमंत्रणको तो स्वीकार करना ही चाहिए।"

दुर्योधनने हर्ष प्रकट करते हुए कहा—"बस, मैं आपके मुखसे यही कहलाना चाहता था। देखिये, अर्जुनसे पहिले मैं आपके पास आया हूँ, अतः आपको हमारी ओरसे युद्ध करना चाहिए। यह अर्जुन बैठा है, आप इससे पूछ लीजिये मैं पहिले आया हूँ या नहीं।"

भगवान्ने हँसते हुए कहा—"इनसे तो तब पूछूँ जब मुझे आपकी बातपर विश्वास न हो। आप कह रहे हैं, तो पहिले ही आये होंगे, किन्तु मैंने तो उठते ही सर्व प्रथम अर्जुनको देखा है अतः मेरी दृष्टिमें तो अर्जुन ही पहिले आया हुआ समझा जायगा। फिर भी आपका भी तो सत्कार करना ही है।"

दुर्योधनने कहा—"यह तो आप पक्षपात करने लगे।"

हँसकर भगवान्ने कहा—"अजी, इसमें पक्षपातकी क्या बात है। नियमानुसार प्रथम आप आये और उठते ही सर्व प्रथम अर्जुनको मैंने देखा। इसलिये आप दोनों ही सहायताके अधिकारी हैं। मेरे पास विशाल नारायणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ। मेरी प्रतिज्ञा है, मैं महाभारत युद्धमें अस्त्र शस्त्र ग्रहण न करूँगा, केवल सम्मति दे सकता हूँ। इन दोनों वस्तुओंमेंसे आप दोनों चाहे जिसे ले लें। अर्जुन छोटा है, छोटोंको

वस्तु ग्रहणमें प्रथम अधिकार है, इसलिये पहिले इन दो में से यह चाहे जिसे ले सकता है।" इतना कहकर भगवान् अर्जुनसे बोले—" बोल, भैया ! इन दो में से तू किसे लेता है।"

अर्जुनने कहा—" वासुदेव ! मैं तो आपको ही लूँगा।"

भगवानने कहा—" अरे, तुझे हो क्या गया है, मुझे निरस्त्र को लेकर क्या करेगा।"

यह सुनकर दुर्योधनने उत्तेजनाके स्वरमें कहा—" देखो, वासुदेव ! अब तुम अर्जुनको उलटी पट्टी मत पढ़ाओ। उसने आपको लिया है, अब आपकी नारायणी सेना मेरी हुई। मुझे स्वीकार है, मुझे तो सेनाकी ही आवश्यकता है, आपको अर्जुनने ही लिया।"

अर्जुनने कहा—" हाँ, मुझे सेनाकी कुछ भी आवश्यकता नहीं, मुझे तो श्यामसुन्दर चाहिए। अकेले श्यामसुन्दर मुझे मिल जायँ, तो फिर मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

यह सुनकर दुर्योधन अत्यंत हर्षित हुआ और फिर बलदेव जीके पास गया। बलदेवजीने उसे गदा विद्या सिखायी थी, उसके प्रति उनका अनुराग भी था। इसीलिये उसने उनसे भी सहायताके लिये कहा। तब बलदेवजीने कहा—" भैया दुर्योधन ! देखो, हमारे लिये तो जैसे ही पांडव वैसे ही तुम हमें तो किसीका पक्ष लेना ही न चाहिए। मैंने कृष्णसे भी कहा—" तू पांडवोंका इतना पक्षपात क्यों करता है। करा सके तो दोनोंमें संधि करा दे न करा सके, तो तटस्थ हो जा। किन्तु उसने मेरी बात मानी ही नहीं।

जब वह पांडवोंकी ओर हो गया है, तो अब मुझे तुम्हारी ओरसे युद्ध करना शोभा नहीं देता। मैं कृष्णका बहुत संकोच करता हूँ, मैं उसके विपक्षमें खड़ा नहीं हो सकता। अतः न मैं पांडवोंका पक्ष लूँगा न तुम्हारा। मैं तो युद्धसे तटस्थ रहूँगा। यहाँ द्वारकामें रहनेसे समाचार मिलते रहेंगे, इससे मुझे क्रोध आ जायगा। अतः मैं यहाँ भी न रहूँगा। जब तक तुम्हारा युद्ध होगा, तब तक मैं तीर्थ यात्रा करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर दुर्योधन प्रसन्न हुआ। वह बलदेवजीकी आज्ञा लेकर चला गया। इधर बलदेव जी भी श्रीकृष्णसे पूछकर तथा अन्यान्य यादवोंकी अनुमति लेकर तीर्थ यात्राके लिये चले गये। इसी तीर्थ यात्रामें उन्होंने यहाँ नैमिषारण्यमें मेरे पिताका वध करके मुझे उनका आसन दिया था और उसी यात्रामें आपकी आज्ञासे उन्होंने बल्वलका वध किया था। इन प्रसङ्गोंका मैं पीछे भी कह चुका हूँ अब कथा प्रसङ्गसे पुनः भी संक्षेपमें कहूँगा। आप सब तो जानते ही हैं। आपके सम्मुख ही ये सब घटनायें हुई थीं।"

छप्पय

भयो युद्ध उद्योग पक्ष पांडव प्रभु लीयो।
उदासीन बनि रहौं यही बल निश्चय कीयो॥
तीरथ व्रतके व्याज द्वारका तैं चलि दीये।
पहुँचे क्षेत्र प्रभास तृप्त सुर, नर, ऋषि कीये॥
करत पुण्य तीरथ सकल, नैमिषार आये मुदित।
स्वागत हित ऋषि आप सब, उठे अर्घ्य दीयो उचित॥

बलदेव जी की तीर्थ यात्रा

(११६२)

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षि पितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥ *

(श्रीभा० १० स्क० ७८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पिता न मेरे उठे रहे बैठे उच्चासन ।
बल सोचें यह धृष्ट करूँ हौं जाको शासन ॥
नल अस्त्र तैं तुरत पिता के काट्यो सिर कूँ ।
ऋषि बोले हम दियो नल आसन वर इनकूँ ॥
बल बोले यह अघ भयो, भावी अति बलवान है ।
अथवा वक्ता बनैं, आत्मा पुत्र समान है ॥

कभी कभी ऐसी अघटित घटना घट जाती है, जिसकी हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते, जिसके सम्बन्ध में पहिले कभी सोचा भी नहीं था, सहसा, देश, काल की परिस्थिति से ऐसा संयोग जुट जाता है, कि अनहोनी बात हो जाती है। साधारण पुरुषों की बात तो पृथक रही, बड़े बड़े अवतारी पुरुषों

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! बलदेवजी द्वारका से चलकर प्रभास क्षेत्र गये। वहाँ स्नान करके तथा देवता, ऋषि, पितर और मनुष्यों को तृप्त करके ब्राह्मणों से घिरे हुए सरस्वती के किनारे किनारे उसके उद्गम की ओर चले।"

के द्वारा ऐसे कार्य हो जाते हैं, जिनका होना लौकिक दृष्टि से शुभ नहीं माना जाता, किन्तु परिस्थिति विवश कर देती है। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है, कि भवितव्यता अत्यंत ही बलवान् है। उसे किसी प्रकार निवारण ही नहीं किया जा सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बलदेव जी द्वारावती से ब्राह्मणों को साथ लिये हुए तीर्थ यात्रा के निमित्त चले। सर्व प्रथम प्रभास क्षेत्र में आये। वहाँ आकर उन्होंने विधिवत् देवता, पितर और ऋषियों का तर्पण किया। तीर्थ श्राद्धादि कृत्य किये। ब्राह्मणों को सुन्दर स्वादिष्ट रसीले कुरकुरे मुरमुरे भोजन कराये जो भी याचक उनके सम्मुख आये सभी को उन्होंने इष्ट वस्तुएँ प्रदान करके सन्तुष्ट किया। वहाँ से वे सरस्वतीके किनारे किनारे प्रवाहाभिमुख होकर अपने साथी ब्राह्मणों के साथ आगे बढ़े। वहाँ से मातृगया के समीप विन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शनतीर्थ, बद्री नारायण की विशाला पुरी, उससे भी आगे ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, स्वर्गारोहण, होते हुए जहाँ व्यास जी ने वेदों का व्यास किया है उस सम्याप्रास तीर्थ में आये वहाँ उन्होंने पूर्व वाहिनी सरस्वती नदी और अलकनंदा के संगम-केशवतीर्थ में स्नान किया। फिर गंगोत्री गये। गंगा के किनारे किनारे और यमुना के किनारे किनारे के तीर्थों को करते हुए वे हरद्वार में आये। वहाँ से गंगा किनारे किनारे ब्रह्मावर्त क्षेत्र (बिठूर) में आये। मुनियो, उन दिनों भी आपका यह सहस्र वत्सर वाला दीर्घ सत्र चल रहा था। उन दिनों मेरे पूज्नीय पिता श्री रोमहर्षण जी आपको कथा सुनाया करते थे। आप लोगों के दर्शनों के निमित्त भगवान् संकर्षण ब्रह्मावर्त से चलकर यहाँ नैमिषारण्य में आये। आप लोगों ने जब शेषावतार बलदेवजी का शुभागमन सुना तो आप सब परम प्रमुदित हुए। उसी समय बलदेव जी ने यज्ञ मंडप में

वेश किया । मेरे पिता व्यास गद्दी पर आप सब ऋषियों से ऊँचे बैठ कर पुराणों की कथा सुना रहे थे । आप सब तो उनके सम्मान के निमित्त उठकर खड़े हो गये, किन्तु मेरे पिता नियमानुसार उठे नहीं । वे ज्यों के त्यों आसन पर बैठे ही रहे । ऋषियों ने संकर्षण का अतिथि सत्कार किया, तथा उनकी विधिवत् पूजा की । मेरे पिता को व्यास गद्दी पर सब ऋषियों से ऊँचे बैठे देखकर बलदेव जी को क्रोध आ गया । उन्होंने सोचा—"देखो, ये इतने बड़े बड़े ब्रह्मर्षि तपस्वी मुझे देखकर स्वागत के लिये अपनी शालीनतावश उठकर खड़े हो गये हैं, किन्तु यह रोमहर्षण सूत होकर भी चुपचाप अपने आसनपर ही बैठा रहा । न तो यह अपने आसन से खड़ा ही हुआ न प्रणाम नमस्कार ही की । अवश्य ही इसे अपनी विद्वता का अभिमान हो गया है । यह भगवान् वेद व्यास का शिष्य होकर भी ऐसा अशिष्ट और विनयहीन हो गया है, इसे अवश्य ही दण्ड देना चाहिये ।" यही सब सोचकर वे क्रुद्ध हो उठे । यद्यपि वे तीर्थ यात्रा के नियम में थे उन्होंने शस्त्रों को छोड़ दिया था, फिर भी भवितव्यता वश वे पिता जी का वध करने को उद्यत हो गये । वे हाथ में कुशाओं का मूँठा लिये हुए थे, उसी की एक कुशा में ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके उन्होंने पिता जी के ऊपर छोड़ दिया । अमोघ ब्रह्मास्त्र से पिता जी का शरीर निर्जीव होकर आसन से नीचे गिर गया । सब ऋषि मुनि हाहाकार करने लगे । ऋषियोंने बलदेवजीसे कहा—" प्रभो ! आपने अनजानमें यह बड़ा अधर्मका कार्य कर डाला । हम सब ने सूत होने पर भी इन्हें ब्रह्मासन दिया था । और जब तक हमारा यज्ञ समाप्त न हो, तब तक की इन्हें आयु और नीरोगता भी प्रदान की थी । अब आपने बीच में इन्हें मार कर हमारे यज्ञ में विघ्न उपस्थित कर दिया ।"

बलदेवजी ने कहा—"मुनियो ! मुझ से भूल हो गयी ।

आप जो भी आज्ञा दें, वही प्रायश्चित्त करने को मैं तत्पर हूँ। कहिये तो मैं इसे जिला दूँ।"

ऋषियों ने कहा—"महाराज ! जिला देने से आपका अस्त्र निष्फल हो जायगा। हम यह नहीं चाहते। ऐसा कार्य कीजिये, कि आपका अस्त्र प्रयोग भी निष्फल न हो और हमारे यज्ञ में विघ्न भी न हो।"

यह सुनकर बलदेवजी बोले—"मुनियो ! वेद का वचन है, कि पिता का आत्मा ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। अतः इसका पुत्र उग्रश्रवा इसके स्थानपर वक्ता हो और वह दीर्घआयु, इन्द्रिय बल तथा सभी प्रकार के बलों से सम्पन्न हो। इसके अतिरिक्त आप और भी जो प्रायश्चित्त बतावें उसे भी मैं करने को उद्यत हूँ।"

ऋषियों ने कहा—"एक इल्वल नामक दानव का पुत्र बल्वल है, वह पर्व पर्व पर आकर हमारे यज्ञ को दूषित करता है। यज्ञके समय आकाश से पीव, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, मद्य तथा मांस आदि अमेध्य पदार्थों की वर्षा करता है। उस पापी को आप किसी प्रकार मार डालें तो यह आपकी बड़ी भारी सेवा होगी। फिर आप बारह महीने तीर्थों की यात्रा करें। इससे आप दोष से मुक्त हो जायगे। दोष मुक्त तो आप हैं ही। दोष आपको स्पर्श ही नहीं कर सकते। आप तो निष्पाप हैं, फिर भी लोक संग्रह के निमित्त आप इस प्रायश्चित्त व्रत का अनुष्ठान करें।"

बलदेव जी ने कहा—"अच्छी बात है, आप जो भी मुझे प्रायश्चित्त बतावेंगे, उसे मैं करूँगा और आपका प्रिय करने के निमित्त मैं इस यज्ञ में विघ्न करने वाले बल्वल का भी वध करूँगा। अब आप इन मृतक लोमहर्षण जी का विधि विधान पूर्वक संस्कार करावें और इनके पुत्र महाबुद्धिमान उग्रश्रवा को अपना पौराणिक वक्ता बनावें।"

मुनियों ने कहा—"देव ! हम ऐसा ही करेंगे । आप पर्व आने तक यहाँ विराजें। पर्व के समय जब बल्वल असुर आवे तब आप उसका वध करके तीर्थ यात्रा को जाँय। हम इन सूतजी का विधि पूर्वक संस्कार करा के इनके पुत्र को पुराण वक्ता बनाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! पिता जी के संस्कार होने के अनन्तर आप सबने मुझे वक्ता बना दिया है। तब से मैं यथा भक्ति यथा शक्ति आप सबकी सेवा कर रहा हूँ। इस प्रकार तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में मेरे पिता का बलदेव जी द्वारा वध हुआ । अब उन्होंने जिस प्रकार बल्वल असुर को मारा और तीर्थ यात्रा की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

और कहें सो करूँ बतावें अपर प्राइचित।
ऋषि बोले-नित विघन करे बल्वल पापी इत॥
ताकूँ मारें अबहिं बरष भरि पुनि तीरथ करि।
यद्यपि आप विशुद्ध शुद्ध होवें द्विज दुख हरि॥
बल बोले हे विप्रगन, बल्वल को वध करूंगो।
द्विज द्रोही कूँ नष्ट करि, सब सकट दुख हरूंगो॥

बल्वल वध और बलदेवजी का प्रायश्चित्त

(११६३)

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगने चरम् ।
मुसलेनाहनत्क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥
सोऽपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥*

(श्री० भा० १०।स्क० ७९ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

वक्ता मोकूँ करयो रहे कछु दिन यदुनन्दन ।
करयो उपद्रव आइ परव पै बल्वल भीषन ॥
हल तें खैंच्यो असुर तानि मूसर सिर मारयो ।
करत भयङ्कर शब्द गिरयो परलोक सिधारयो ॥
यों बल्वलकूँ मारिकें, तीरथ हित बल चलि दये ।
तब तक कौरव खल नृपति, भारत रन महँ मरि गये ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीबलरामजी ने उ[illegible] आकाश में गमन करनेवाले ब्रह्मद्रोही बल्वल असुरको अपने हल के अग्रभागसे खींचकर अत्यत क्रोधित होकर मूसल से उसके सिरपर प्रहार किया । उस मूसल के लगते ही उसका मस्तक फट गया इससे वह दुखी होकर चीत्कार करता हुआ, तथा रक्त उगलता हुआ उसी प्रकार प्राणहीन होकर गिर गया जिस प्रकार गेरू का लाल पर्वत इन्द्र के वज्रसे गिर जाता है ।"

सर्वसमर्थ ईश्वरकोटि के पुरुषों की जितनी चेष्टायें होती हैं, वे सब लोक कल्याण के ही निमित्त होती हैं। वे स्वयं तो पाप पुण्यसे रहित होते हैं फिर भी यह धर्म है, यह अधर्म है इसे जतानेके लिये वे धर्मका आचरण करते हैं और जहाँ लौकिक दृष्टि से अधर्मसा हो गया हो, उसका वे प्रायश्चित्त करते हैं। वास्तवमें उन्हें धर्माधर्म स्पर्श भी नहीं करता फिर भी लोक संग्रहके लिये वे वैसे आचरण करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भूलसे कोई पाप हो जाय, तो तीर्थ, व्रत उपवास तथा देवता, द्विज, गुरु और सम्माननीय पुरुषों की सेवा द्वारा तथा अन्यान्य शास्त्रीय प्रायश्चित्तों द्वारा उसका परिमार्जन किया जाता है। जब भगवान् संकर्षण द्वारा मेरे पूज्य पिताका वध हो गया, तब आप सबने उन्हें दो कार्य बताये। एक तो बल्वलका वध करके हमारे यज्ञके विघ्नको दूर करदो दूसरे बारह महीने तीर्थोंमें भ्रमण करो तब आप विशुद्ध होंगे।" सर्वज्ञ बलदेवजीने ये दोनों बातें स्वीकार कीं। अब वे बल्वलके वध निमित्त कुछ दिन नैमिषारण्यमें ठहर गये। अब वे उस पर्वकी प्रतीक्षा करने लगे, जिस पर्वपर आकर वह असुर यज्ञमें विघ्न किया करता था। उस पर्वके आने पर वह असुर आया। वह आकाशसे धूलि वर्षाता हुआ आरहा था, उसके आते ही प्रचण्ड वायु चलने लगी। सब ओर दुर्गन्धि फैल गयी। मदिरा मांस, मल, मूत्र, रुधिर, पीव, तथा अन्यान्य अमेध्य वस्तुओंकी वह वर्षा कर रहा था। आप लोगोंने भगवान् संकर्षण को उसे दिखा दिया। प्रथम तो वह धूलि आदिके बीचमें दिखायी ही नहीं दिया। कुछ कालके अनन्तर हाथमें त्रिशूल लिये वह भयङ्कर राक्षस दिखायी पड़ा। बलरामजीने देखा, वह दैत्य साधारण नहीं है। अञ्जनके पर्वतके समान वह कृष्ण वर्णका तथा महान् डील डौल वाला था। उसकी दाढ़ी मूछें तथा सिरके केश

तपाये हुए ताँबे के सदृश लाल लाल रूखे और कड़े थे। वे खड़े हुए थे। पर्वत की कंदराओंके समान उसकी गोल गोल दो आँखें थीं। हल की फारके समान तीक्ष्ण और टेढ़ी टेढ़ी उसकी दाढ़ें थीं। कुटिल भ्रुकुटियों के कारण उसका मुखमण्डल बड़ा ही भयङ्कर प्रतीत हो रहा था संकर्षणने सोचा—"बिना हल मूसलके यह मरने का नहीं।" अतः उन्होंने अपने हल मूसल को स्मरण किया। स्मरण करते ही वे दोनों दिव्यास्त्र तुरन्त वहाँ उपस्थित हुए।

अब बलदेवजीने सिंह के समान गर्जना की। उसे सुनकर असुर आकाश में उड़ने लगा और अपना भयङ्कर रूप दिखाने लगा। बलरामजी ने उस द्विज द्रोही असुर की ओर अपना हल बढ़ाया। हल की नोंक को उसकी ग्रीवा में डालकर ज्यों ही उसे खींचा, त्योंही वह चिङ्घाड़ता हुआ विवश होकर खिंचने लगा। जब वह समीप आगया, तो क्रोध में भरकर उसके शिर पर एक मूसल जमा दिया। मूसल के लगते ही उस खल की खोपड़ी खील खील हो गयी। उसमें से रक्त की धारा उसी प्रकार बहने लगी, जैसे अंजन के पर्वत से लाल रंग का जल फूटकर बह रहा हो। वह उसी प्रकार गिर गया जैसे इन्द्र के द्वारा पंख काटे जानेपर पर्वत गिर गये थे। यह देखकर आप सब ऋषिमुनि अत्यंत ही सन्तुष्ट हुए। आपने शेषावतार बलदेव जी की स्तुति की ब्राह्मण होनेके नाते उन्हें आशीर्वाद दिये और, जैसे वृत्र के वधपर देवताओं ने इन्द्रका अभिषेक किया था, उसी प्रकार आप सबने उनका सविधि अभिषेक किया। अम्लान पुष्पों की मालायें रेशमी वस्त्र तथा बहुत से दिव्य आभूषण प्रदान करके आपने वल्वलहारी बलदेव जी का अत्यधिक सम्मान किया।

इस प्रकार आप सबसे सत्कृत तथा पूजित होकर बलदेवजी आप सब की पूजा करके उत्तराखण्ड के शेष तीर्थों के लिये चले।

कौशकी नदीको पार करके उन्होंने कूर्माचल पर्वत श्रेणियों में प्रवेश किया। कौशकी जहाँ सरयू से मिलती हैं वहाँ से वे सरयू नदी के किनारे किनारे मान सरोवर तक गये, जहाँ से भुवन पावनी सरयू नदी निकलती है। फिर सरयू के किनारे किनारे चलते हुए वे अयोध्या होते हुए तीर्थराज प्रयाग में पधारे। प्रयाग में पहुँचकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रयागराज संसार में सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है। जहाँ गंगाजी हैं वहाँ यमुनाजी नहीं, जहाँ यमुनाजी हैं वहाँ गंगाजी नहीं। यहाँ गंगा यमुना और सरस्वती तीनों ही भुवनपावनी सरितायें प्रवाहित होती हैं। ये समस्त तीर्थों के एक मात्र चक्रवर्ती एकछत्र राजा हैं। करोड़ो तीर्थ इनकी उपासना के निमित्त यहाँ निवास करते हैं। इस क्षेत्रमें स्नान, दान, तर्पण, हवन तथा पूजनादि का सबसे अधिक महात्म्य है। यहाँ पर किये हुए सब कर्म करोड़ो गुने हो जाते हैं। बलदेवजी यहाँ स्नान पूजन तथा देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण करके आगे बढ़े। काशी जो होकर आपने गाधिपुर (गाजीपुर) के समीप गोमती में स्नान किया जहाँ भगवती गोमती गंगाके गर्भ में प्रवेशकर जाती हैं। फिर विपाशा शोणभद्र आदि पुण्य नदियों में स्नान दान करते हुए पुलहाश्रम-हरिहर क्षेत्र में पहुँचे। जहाँ भगवती गंडकी गंगाजी में मिलती हैं। गंडकी और गंगामें स्नान करते हुए आप गयाजी में गये। वहाँ आपने अपने पितरों का तर्पण किया। फिर आप गंगाजी के किनारे किनारे गङ्गा सागर सङ्गम तक गये। जहाँ भगवान् कपिल समुद्र के दिये हुए स्थान में अब तक निवास करते हैं। गंगा सागर में स्नान करके तथा भगवान् कपिलका दर्शन करके समुद्रके किनारे किनारे जगन्नाथपुरी में पहुँचे। इस प्रकार उत्तराखण्डके तथा पूर्व के तीर्थों को करते हुए आप दक्षिणके तीर्थों में गये। दक्षिणमें महेन्द्र पर्वत जाकर भगवान् परशुरामका दर्शन किया। फिर समुद्र

स्थान पर गये जहाँ गोदावरी गंगाकी सात धारायें हो गयी और वे सातों धाराएँ दक्षिण समुद्रमें मिली हैं। वहाँसे आप सरोवर पर गये। फिर वेणा भीमरथी आदि पुण्य सरिताओंमें स्नान करके स्वामिकार्तिकेय जी के दर्शनों के निमित्त गये। फिर श्री पर्वत पर जाकर भगवान् वृषभध्वजका दर्शन किया। फिर द्रविणदेशमें जाकर परम पवित्र वेङ्कट पर्वत पर गये, वह तिरुपती बालाजी के दर्शन करके अन्य सुप्रसिद्ध दिव्य देशोंके दर्शन करते हुए आगे बढ़े। आगे चलकर आप श्रीरङ्गम् क्षेत्रमें आये जहाँ पर परम पवित्र कावेरी नदी है और जहाँ पर भगवान् श्रीरंग नाम से सदा निवास करते हैं। श्री रङ्गम से चलकर आप ऋषभपर्वत पर हरिक्षेत्र के दर्शन करके दक्षिण मथुरा (मदुरा) में पहुंचे जहाँ पर कामाक्षी देवी का अत्यंत ही भव्य मन्दिर है मदुरा में कुछ दिन रहकर तथा कृतमाला नदी में स्नान करके आगे कामकोटि तीर्थ कुंभकोणम में आये। वहाँ से चलकर आप श्रीरामेश्वर में पहुँचे। उस पवित्र धाम में बलभद्रजीने दश सहस्र गौओं का ब्राह्मणोंके लिये दान दिया। धनुष्कोटि पर दो समुद्रों के संगम में स्नान कर आप पुनः मदुरा में लौट आये। फिर कृतमाला और ताम्रपर्णी पवित्र नदियोंमें स्नान करते हुए कुलाचल मलयपर्वतपर पहुँचे। मलयाचलपर विराजमान भगवान् अगस्त्य के पादपद्मों में प्रणाम करते हुए यदुनंदन बलदेव जी दक्षिण समुद्रके किनारे कन्या कुमारी स्थान में पहुँचे। जहाँ से आगे समुद्र ही समुद्र है। फिर अनन्तशयन भगवान् के उस क्षेत्र में गये जहाँ शेष शैया पर शयन करते हुए भगवान् के दर्शन होते हैं। इस प्रकार पद्मनाभ, जनार्दन के द[illegible]

ादि देशों के दिव्यदेशों के दर्शन करके तथा पुण्य सरिताओंमें
ान करके गोकर्ण नामक शिव क्षेत्र में पहुँचे जहाँ सदाशिवकी
र्वदा सन्निधि बतायी जाती है। फिर द्वीप में रहनेवाली आर्या
ीके दर्शन किये। आगे शूर्परिकक्षेत्रमें गये। फिर तापी पयोष्णी
था निर्विन्ध्या आदिक नदियों में स्नान करते हुए दण्डकारण्य
पधारे इस प्रकार वहाँसे घूमते हुए आप माहिष्मती पुरी
हेश्वर में आये। नर्मदा नदीमें स्नान करके आप फिर लौटकर
र्जर प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थ प्रभास पट्टन क्षेत्र में आये। इसी
र्थ यात्रा के प्रसङ्ग में उन्होंने सुना कि महाभारत युद्ध हो चुका
व भीमसेन और दुर्योधन का गदायुद्ध होने वाला है, इसे सुन-
र वे वायुवेग से कुरुक्षेत्र में आये। दोनों को रोकना चाहा नहीं
के। अंत में भीमसेनने युद्धके नियमों के विरुद्ध दुर्योधनकी
ाँघ तोड़ दी इस पर बलदेवजी अत्यंत कुपित हुए। श्रीकृष्ण
गवान् के समझाने पर दैवकी ऐसी ही गति समझकर वे लौटकर
ारकापुरी पहुँच गये। फिर तीर्थ यात्रा समाप्त करके अपने
न्धुबान्धवों तथा पत्नीके साथ पुनः नैमिपारण्य क्षेत्र में आये
ौर आकर आप ऋषियों से उन्होंने निवेदन किया—"मैं आपकी
ाज्ञानुसार पृथिवीके सब तीर्थों की यात्रा कर आया हूँ, अब
रे लिये आप क्या आज्ञा देते हैं।"

यह सुनकर आप सब ब्रह्मज्ञानी ऋषियोंने उनसे प्रायश्चित्तादि
रा कर सब प्रकारके यज्ञ कराये यज्ञ हो जाने के अनन्तर
लदेवजीने कहा—"ऋषियो! आपने मुझसे यज्ञ कराये हैं, अब
इन यज्ञोंकी दक्षिणा में आपको क्या दूँ। आप जो चाहे सो मुझसे
दक्षिणा माँग लें।"

ऋषियोंने कहा—"भगवन्! हम सोना चाँदी की नाशवान्
दक्षिणा लेकर क्या करेंगे हमें तो आप विशुद्ध विज्ञान का उपदेश
दें। जिससे हम इस संसार सागरको सरलता से पार कर जायँ।"

यह सुनकर संकर्षणावतार भगवान् बलराम ने आप विशुद्ध विज्ञान मय उपदेश दिया। जिसके प्रभावसे आप को निश्चय हो गया कि आत्मा में ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है और इस जगत् के अणुपरमाणु में सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से आत्मा व्याप्त है।

इस प्रकार विज्ञानमय दक्षिणा देकर बलराम जी ने अपनी पत्नी रेवतीजी के साथ यज्ञान्त अवभृतस्नान किया। इस प्रकार वे सूतजीकी हत्याके प्रायश्चित्तको करके सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत होकर अपने बन्धु बान्धवों के बीच पत्नी सहित ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों उडुगनों के बीचमें चन्द्रिका के सहित चन्द्रदेव विराजमान हों। यज्ञादि से निवृत्त होकर और आप सब श्रेष्ठ ब्राह्मणों से अनुमति लेकर वे द्वारकापुरी को चले गए और वहाँ सुख पूर्वक रहने लगे। इस प्रकार मुनियो! ईश्वर होकर भी बलरामजी ने लोक संग्रह के निमित्त पिताजी के वधक आप सबके कहने से प्रायश्चित्त किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमें बलरामजी के और भी चरित्र सुनावें।"

सूतजीने कहा—"महाराज! एक दो या दस बीस चरित्र हों तो उन्हें मैं सुनाऊँ भी महाबलशाली, अनन्त, अप्रमेय तथा माया से मनुष्य बने भगवान् संकर्षण के अगणित चरित्र हैं। उनका अन्त नहीं, पार नहीं। चतुर्व्यूह में अहंकार के अधिष्ठातृ देव ये संकर्षण सबकी आत्मा ही हैं, जो इनके चरित्रों को श्रद्धा सहित सुनेंगे, उन पर इनके छोटे भाई भगवान् वासुदेव प्रसन्न होंगे जो लोग सायं प्रातः संकर्षण भगवान् के नामों का तथा उनके गुणों का कीर्तन करेंगे, वे परमपद के अवश्य ही अधिकारी होंगे। इस प्रकार मैंने संक्षेप में भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र के तथा बलरामजी के कुछ चरित्र कहे। मेरे गुरुदेव भग-

वान् शुक महाराज परीक्षित से इतना ही भागवत चरित कहकर चुप हो गये। आज उन्हें कथा सुनते सुनते छै दिन हो चुके थे। सप्ताह में अभी कुछ समय शेष था। इसलिये वे घबरा गये, कि भगवान् शुक कहीं यहीं पर तो भागवतचरित की समाप्ति न कर देंगे। मेरा तो संकल्प है भगवान् के चरित्र सुनते सुनते ही इस नश्वर शरीर का अंत कर दूँ। भगवत् नाम गुण श्रवण से बढ़कर मृत्यु समय में कोई सरल सुगम और सर्वोपयोगी साधन नहीं है। यही सब सोचकर वे कहने लगे।

महाराज परीक्षित श्री शुकदेवजी से कहने लगे—"भगवन्! आप चुप क्यों हो गये। यह तो हो नहीं सकता, कि भगवान्के अब कोई चरित्र रहे ही न हों, सब समाप्त हो गये हों। भगवान् के चरित्र तो कभी समाप्त होते नहीं, क्यों कि वे अगनित हैं, कभी समाप्त न होने वाले हैं। मेरी मृत्यु में भी अभी समय शेष है, अतः उन अनन्त वीर्य अच्युत अविनाशी श्री हरि के कोई अन्य पवित्र चरित्र सुनावें।"

यह सुनकर श्रीशुकदेव जी हँसे और बोले—"राजन्! आप बार बार उसी एक प्रश्नको क्यों करते हैं? आपका भगवान् के चरित्र श्रवण में ही इतना अधिक आग्रह क्यों है?"

यह सुनकर आँखों में आँसू भर कर महाराज परीक्षित् बोले—"ब्रह्मन्! यह जीव सुख चाहता है, सुखकी खोजमें ही भटक रहा है। यह किसी से प्यार करना चाहता है। प्रेम के लिये व्याकुल होता है, किसी अत्यंत प्रियतम को हृदय से सटाने के लिये विह्वल हो रहा है, तड़प रहा है, किन्तु संसार में सर्वत्र स्वार्थ का बोलवाला है। जो मिलना चाहता है, स्वार्थ से। जो विषयों का कीड़ा है, जिसके मनमें कामकी वासना है, वह शुद्ध प्रेम कर ही नहीं सकता। प्यारे की मधुर वाणी सुनकर ये कर्ण तृप्त होते हैं, किन्तु नित्य सुख सम्बन्धी बातें सुननेको मिलती

नहीं। ये ही पर चर्चा पर निन्दा सुनाई पड़ती है। जहाँ भी दो व्यक्ति बैठेंगे ये ही बातें होंगी, वह ऐसा है वैसा है। उसने यह किया वह किया। दूसरों के गुण दोषों की ही चर्चा होती है। इससे जो विशुद्ध प्रेमका भूखा है, उसका मन ऊब जाता है, उसे संसार सूना सूना दिखायी देता है।

जब जीव नाना प्रकार के विषय सुखों को खोजते खोजते थक गया हो और जिसे सार वस्तुके श्रवण की इच्छा उत्पन्न हो गयी हो, ऐसे व्यक्ति के सामने भगवान् अथवा भक्तों के चरित्र सुनाये जायँ, तो कभी भी उसकी उन चरित्रों को सुनते सुनते तृप्ति न होगी। उसे यह लालसा निरन्तर बनी ही रहेगी, कि इन्हें और सुनूँ और सुनूँ। बार बार सुनने पर भी वह उनसे उपरत नहीं हो सकता। प्रभो! वाणी की सफलता गोविन्द के गुण गान में ही है। करों की सफलता कृष्ण कैंकर्य करने में ही है। जो हाथ भगवत्सम्बन्धी कार्य करते हैं वे ही यथार्थ हाथ हैं मनकी सफलता मन मोहनकी माधुरी के ही मननमें हैं। जो मनुष्य माधव के मनोहर रूपका स्मरण करता है उसी का मनस्वी होना सफल है। कर्ण कुहर वे ही कमनीय हैं, जो कृष्ण कथा रस के रसिक हैं। सिर वही सफल है जो भगवान् की चल प्रतिमा साधुसन्त और अचल प्रतिमा अर्चा विग्रह आदिको प्रणाम करता है। नेत्रों की सफलता भगवान् के तथा भगवद्-भक्तों के दर्शन में ही है। जिन अङ्गों पर भगवान् का चरणामृत तथा उनके भक्तोंका चरणामृत पड़ जाता है, वे ही अङ्ग सफल है। सो प्रभो! मेरे कर्णों को कृष्ण कथा से भर दो, मुझे भगवान् के और भी सुखप्रद चरित्र सुनावें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित ने भगवत् चरित्र श्रवण में अपनी अत्यधिक उत्सुकता तथा उत्कंठा प्रदर्शित की तो भगवान् शुक परम प्रमुदित हुए। उन्हें सहसा

सुदामाजी का चरित्र याद आगया। उस चरित्रके स्मरण मात्र से ही गुरुदेव का शरीर रोमाञ्चित हो गया। उनका हृदय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में तल्लीन हो गया। कुछ क्षणोंमें वाह्य स्मृति हुई। और फिर वे सुदामा चरित कहने लगे। अब जिस प्रकार मेरे गुरुदेव श्री भगवान् शुकने महाराज परीक्षित् से सुदामा चरित कहा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भीम सुयोधन लड़ें न वल वल बहुत लगायो।
किन्तु उभय हठ करी सुयोधन स्वरग सिधायो॥
नैमिसार पुनि आइ यज्ञ बलदाऊ कीन्हों।
यज्ञ दक्षिणा रूप ज्ञान तुम सब कूँ दीन्हों॥
यों वध बल्वलको करयो, सकरषन अवतार वल।
सुनहु सुदामा चरित अब, परम सुखद अतिशय विमल॥

—※—

सुदामा चरित

(११६४)

कृष्णस्यासीत्सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ८० अ० ६,७ श्लो०)

छप्पय

हरि सहपाठी सखा सुदामा रहे विप्रवर ।
मलिन वसन तन छीन दीन भिक्षुक फूट्यो घर ॥
पतिनी तिनकी लटी दूबरी करुना मूरति ।
हरि-साली घर हिली करी तिनकी अति दुरगति ॥
भिक्षामें जो कछु मिलै, ता ते करि निरवाह नित ।
हरि सुमिरन दोऊ करत, नहिँ अधर्म महँ देहिँ चित ॥

---

* श्री शुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण भगवान्‌के एक ब्राह्मण सखा थे । वे ब्रह्मज्ञानी, इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त, प्रशान्तात्मा और जितेन्द्रिय थे । वे फटे पुराने कपड़े पहिने रहते थे और उसी प्रकार भूखसे दुबली हुई उनकी स्त्री थी । वे 'गृहस्थाश्रममें ही वर्तमान रहकर प्रारब्धवश जो भी मिल जाता उसी पर निर्वाह करते थे ।"

धनी होनेमें दुःख ही दुःख हैं और निर्धन होनेमें सुख ही सुख किन्तु निर्धनता यदि आवश्यकतासे अधिक हो जाय, पापी टेको भरनेकी चिंता आठों पहर लगी रहे, तो ऐसी दरिद्रतासे ढ़कर संसारमें कोई भी दुःख नहीं। मनुष्य सब कुछ सहन कर कता है, किन्तु वह अधिक काल तक भूखको सहन नहीं कर कता। क्षुधाको 'कष्टातकष्टतरी' बताया है। अपनी भूख किसी कार सही भी जा सकती है, किन्तु जब छोटे छोटे बच्चे भूखके ारण तड़पने लगते हैं, तब अच्छे अच्छोंका धैर्य छूट जाता है। स समय यह बात मनमें आ ही जाती है कि हाय! भगवान्को या नहीं आती। इस अवस्थामें भी धर्म पर टिके रहना, मनको विचलित न होने देना, अधर्मकी ओर प्रवृत्ति न होना. यह बड़े ुण्यका काम है। जिसने पूर्वजन्मोंमें महान् पुण्य न किये हो, वह ऐसा लोकोत्तर साहस कर ही नहीं सकता। दरिद्रताके पराकाष्ठा पर पहुँचने पर मन विचलित हो ही जाता है। जिसका मन विचलित न हो, वह श्रीकृष्णका सखा है, सुहृद है, उनके तुल्य ही है। वह भगवान्का भैया ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराजा परीक्षितने भगवान् शुकसे कोई अन्य भगवत्चरित सुनानेकी अत्यंत हठ की, तो वे अति मधुर प्रेमका पुण्य प्रतीक सुदामा चरित सुनानेको प्रस्तुत हुए। उसी चरितको मैं आपको सुनाता हूँ।"

काठियावाड़ प्रांतमें एक जूनागढ़ परम प्रसिद्ध स्थान है, उसमें एक सुदामा नामके दरिद्र ब्राह्मण रहते थे। वे बड़े ही संयमी, सुशील, सदाचारी, सत्यवादी, सरल तथा साधुसेवी थे। वे ब्रह्मज्ञानी थे। संसारके सुन्दरसे सुन्दर पदार्थ उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते थे। जितने भी इन्द्रियोंको सुख देनेवाले विषय हैं, उन सबसे वे सर्वथा विरक्त थे। वे अत्यंत ही दरिद्र और निष्किंचन थे। इतने पर भी उनका चित्त कभी चंचल नहीं

हुआ। दरिद्रता सम्बन्धी जितने भी दुख आते उन्हें शान्ति
साहसके साथ सहन करते। उन्होंने इन्द्रियोंको अपने वशमें
रखा था।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! क्या सुदामाजी सन्
भिक्षु थे?"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज! वे सन्यासी नहीं थे, ग
थे। उनकी वृत्ति भिक्षा ही थी। भिक्षापर ही वे निर्वाह क
प्रारब्धवश जो भी कुछ रूखा सूखा, थोड़ा बहुत मिल जाता
पर निर्वाह करते। प्रारब्धवशसे उन्हें कभी उतना अन्न
मिला, जिससे सब प्राणियोंका पेट भर जाय। कभी आ
रहते और कभी पूर्ण उपवास भी करना पड़ता।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! गृहस्थमें दारिद्र दुख
अखरता है। अपने पेटमें तो किसी प्रकार पत्थर बाँधकर
बिताया भी जा सकता है, किन्तु जब फूल जैसे बच्चे भूखसे
बिलाने लगते हैं तब सब ज्ञान ध्यान भूल जाता है। यदि
द्रतामें स्त्री भी कर्कशा मिली, तब तो वह दरिद्रता रौरव नर्क
बढ़कर दुखदायी हो जाती है। सौभाग्यकी बात यह थ
सुदामाजीकी पत्नी कर्कशा नहीं थी। वह सती साध्वी पतिपर
और सुशीला थी। स्वयं दुखमें रहकर पतिको सुखी रखनेकी
करती। जो असती स्त्रियाँ होती हैं, वे निर्धन पतिका प
करके पर पुरुषको भजने लगती हैं, किन्तु पतिव्रताके लिये
पति कैसा भी हो वही सर्वस्व है, उसे छोड़कर वे अन्य
पुरुषकी ओर आँखें उठा कर भी नहीं देखती।"

सुदामाजी जैसे दुर्बल थे, वैसी ही उनकी पत्नी थीं। भि
जो कुछ मिलता उसे पवित्रताके साथ बनाकर भगवान्को
लगातीं, अपने पतिको भोजन करा देतीं, बच्चोंको खिला
यदि एक आधी रोटी बच जाती, तो उसे खाकर जल पी

कुछ न बचता तो उपवास कर जातीं। सुदामाजी पूछते—"प्रिये! तुमने कुछ प्रसाद पाया?"

तब कह देतीं—"हाँ महाराज! सब आनन्द है, आप मेरी कुछ चिन्ता न करें। उन्हें प्रायः उपवास करने पड़ते। इससे वे सुदामाजीसे भी अधिक दुर्बल थीं। उनकी एक एक हड्डी गिनी जा सकती थी। उनके पास एक अत्यंत ही मैली धोती थी। उसमें इतनी थेगरियाँ लगी हुयीं थी कि अब उसमें कहीं सीनेके लिये स्थान नहीं था। उसे पत्थर पर पछाड़कर इस लिये नहीं धोती थी कि इसके टाँके खुल जायँगे और फट जायगी। दूसरे उनके पास नहानेका दूसरी धोती थी भी नहीं। उसी धोतीको आधी निचोड़कर आधीको सुखा लेती तब उसे पहिनकर शेष आधीको भी सुखाती। कई वर्ष पहिले जब सुदामाजीको कहीं नयी धोती मिली थीं।तब उनकी इस पुरानी धोतीको पत्नीने ले लिया था। तबसे जैसी तैसी थेगरी लगाकर उसे चला रहीं थीं। अब उसकी ऐसी दशा हो गयी थी कि जहाँ भी बैठतीं तनिक दबनेसे चर्रसे फट जाती। इसलिये अब वे दिनमें बाहर निकलने योग्य नहीं रहीं थीं। सुदामाजीके पास भी न जाने कबकी एक पुरानी पगड़ी थी, एक पुरानी अङ्गरखी थी, जिसमें रङ्ग निरङ्गी थेगरीं लगीं हुयीं थीं। धोती कुछ अच्छी थी। घरमें बर्तनोंके नाम पर एक फूटा तवा और एक काठकी कठौती थी। मिट्टीके दो पुराने बर्तन भी थे, एक टूटी रहिया और फूटी लुटिया भी थीं। घरके ऊपरके छप्परका फूंस सड़ सड़कर गिर गया था, उसमें कुछ बाँस लगे थे। जिनमेंसे रात्रिके समय सब तारे गिने जा सकते थे। एक बहुत पुराने कपड़ों की कथरी थी जिसमेंसे दुर्गंधि आती, उसे टूटे खाट पर बिछाकर माता अपने बच्चोंको सुला देती और अपने आप भूमिमें पड़कर रात्रि बिता देतीं। वर्षाके दिनोंमें तो उन्हें सम्पूर्ण रात्रि जाग कर ही बितानी पड़ती।

एक बार तीन दिनों तक वर्षा होती रही। सुदामाजी बाहर कहीं भिक्षाके लिये न जा सके। घरमें अन्नका एक दाना नहीं था। छोटा बच्चा भूखके कारण तड़प रहा था। माता उसे बारबार स्तन पिलाती, किन्तु उन सूखे स्तनोंमें दूध कहाँ। दूधकी तो बात ही क्या रक्तकी भी बूँदें उनमें नहीं थी। जैसे तैसे कहीं से माँग जाच कर बच्चेको कुछ खिलाया। तीसरे दिन जब कहीं भी आशा न रही और बच्चा अत्यधिक रोने लगा। तब तो पतिव्रता-का हृदय फटने लगा। उसने कभी भी मुखसे आह नहीं निकाली थी। न अपना दुख कभी पतिके सम्मुख प्रकट ही किया था। प्रकट न करने पर भी सुदामाजी सब जानते थे, किन्तु आज उस पर नहीं रहा गया। बच्चेकी ऐसी दुर्दशा देखकर मातृहृदय फटने लगा। आज जब दारिद्र दुःखसे अत्यंत ही दुखित हो गयी तो वह कुछ कहनेको अपने पतिके सम्मुख आयी। पतिव्रताका हृदय धड़क रहा था। भयके कारण वह काँप रही थी। उसका मुख मलीन हो रहा था, सम्पूर्ण साहस बटोरकर उसने बड़े ही मधुर स्वरमें कहा—"प्राणनाथ! मैंने सुना है, आपके मित्र साक्षात् श्रीपति हैं।"

खिन्न मनसे सुदामाजीने कहा—"प्रिये! मेरा उनका क्या सख्य, वे श्रीपति हैं, मैं भिक्षुक दरिद्र नीच ब्राह्मण। मैत्री तो बराबर वालोंमें होती है।"

पतिव्रताने कहा—"नहीं, महाराज! आपने तो अनेकोंबार मुझसे कहा है कि हम साथ साथ पढ़ते थे, साथ साथ वनमें समिधा, कुश तथा फल फूल लेने जाते थे भगवान् मुझसे बड़ा प्रेम करते थे।"

सूखी हँसी हँसकर सुदामाजीने कहा—"वे बहुत पुरानी बालकपनकी बातें थीं। उन सब बातोंको तो भगवान् भूल गये होंगे। कभी कभी विषम पुरुषोंमें भी एक सी स्थिति होने पर

मित्रता हो जाती है। जैसे कोई बड़ा आदमी है, उसे कारावासका
ड हो गया। किसी साधारण मनुष्यको भी उसीके साथ कारा-
ासमें रहना हुआ, तो वहाँ तो दोनों एकसी परिस्थितिमें हैं।
रस्परमें मित्रता हो जाती है। मनुष्य प्राणी सामाजिक जन्तु है,
से बोलने चालने प्रेम करने तथा लड़नेको साथियोंकी आवश्य-
ता होती ही है। कारावासमें प्रेम करनेको कोई नहीं है, तो उस
ाधारण पुरुषसे ही प्रेमकी घुल घुलकर बातें करते हैं, उसके
ाथ ही स्नेह प्रकट करके समय काटते हैं। अवधि समाप्त होने
र जब दोनों छूट जाते हैं और फिर वह साधारण आदमी उस
ड़े आदमीके समीप जाता है, तो वह बड़ा आदमी बात
ी नहीं करता। कुछ दिनोंमें भूल भी जाता है। पढ़ते समय
ात्रोंमें मित्रता हो ही जाती है। साथ साथ यात्रा करनेसे भी
मेत्रता होती है। किन्तु इन अवसरों पर की मित्रता स्थाई नहीं
ोती। जब भगवान् श्यामसुन्दर पढ़ते थे, तब वे भी ब्रह्मचारी
े, मैं भी ब्रह्मचारी था। अब वे राजा हो गये हैं, मैं जैसाका
ैसा दरिद्र भिखारी ही बना हुआ हूँ। वे तो मुझे अब पहिचान
ी नहीं सकेंगे।"

सुदामापत्नीने कहा—"प्राणनाथ! ये बातें तो साधारण
लोगोंकी हैं। क्या भगवान् अपने भक्तोंको भूल सकते हैं। सर्वा-
न्तर्यामीसे क्या छिपा है। मित्रताकी बात छोड़ भी दी जाय, तो
भी आप ब्राह्मण हैं, वे ब्राह्मणभक्त हैं। ब्रह्मण्य हैं। वे भला
आपको भूल सकते हैं। वे शरणागत वत्सल हैं, सज्जनोंकी एक-
मात्र गति हैं। ओछे आदमी धन पाकर निर्धनोंको भूल जाते हैं।
भगवान् आपको कभी भी न भूले होंगे।"

सुदामाजीने कहा—"हाँ, संभव है न भूले हों। अच्छा,
तुम्हारे पूछनेका अभिप्राय क्या है?"

सकुचाते हुए रुक रुक कर अस्पष्ट शब्दोंमें सतीने कहा—"मेरी प्रार्थना यह है कि आप उनके पास जायँ ?"

चौंककर सुदामाजीने कहा—"उनके पास किसलिये जाऊँ ?"

सतीने कहा—"इसलिये कि आप ब्राह्मण हैं और यदुनन्दन ब्रह्मण्यदेव हैं। आप कुटुम्बवाले दीन हैं, वे सबके प्रतिपालक दीनबन्धु हैं। आप दरिद्रताके कारण दुखी हैं वे लक्ष्मीपति हैं आपको बहुतसा धन देकर इस दारिद्रके दुःखसे छुड़ा देंगे।"

विस्मय प्रकट करते हुए सुदामा बोले—"क्या भगवान्‌के पास धन माँगने जाऊँ ? प्रिये ! यह कार्य मेरे वशका नहीं। मुझे भूखे मर जाना स्वीकार है, किन्तु धनके लिये भगवान्‌के समीप न जाऊँगा। अरे, तुच्छ धनकी याचना उन अखिल ब्रह्माण्डनायक से करूँ ?"

सतीने कहा—" प्रभो ! अपने लिये नहीं, इस बच्चेके लिये मुझ दासीके लिये। मेरे आग्रहको स्वीकार करो।"

सुदामाजीने कहा—"बच्चा कल मरता हो, तो आज मर जाय, मैं धनके लिये भगवान्‌से कभी न कहूँगा।"

स्त्रीने कहा—" प्रभो ! जब हमारे भाग्यमें याचना ही लिखी है, तो फिर साधारण आदमियोंसे याचना क्यों करें। ऐसे से जाकर क्यों न माँगे कि फिर किसीके सम्मुख हाथ ही न फैलाना पड़े।"

सुदामाजीने कहा—"प्रिये ! तुम्हारा कथन सत्य है। नित्य याचना करके ही हम उदर पूर्ति करते हैं। किन्तु मित्रतामें याचना शोभा नहीं देती। जिसको मित्रता निभानी हो उसे दो बातोंका सदा ध्यान रखना चाहिये, एक तो कभी मित्रसे धनकी याचना न करें, एक उसकी स्त्रियोंसे एकान्त में बातें न करें। ये दो बातें ऐसी हैं कि इनसे कभी न कभी मनमुटाव हो ही जाता है। यह जिस किसी प्रकार आधे पेट रहकर दिन काट लेंगे। तुच्छ धन

ये भगवान्के यहाँ जाना शोभा नहीं देता। फिर उनका पता भी नहीं वे कहाँ हैं। वे वर्षों धर्मराज युधिष्ठिरके यहाँ इन्द्रप्रस्थमें आते हैं। कहीं किसी असुर राजाको मारने चले जाते हैं।"

सतीने कहा—"प्राणनाथ! अपना दुख सुख अपनों ही से तो कहा जाता है। श्यामसुन्दर आपके सुहृद हैं। आपके ही क्या सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद हैं। उनसे की हुई याचना याचना नहीं कहाती। मैंने अच्छी प्रकार पता लगा लिया है, वे आजकल द्वारकामें ही निवास कर रहे हैं। वे समस्त भोज, वृष्णि और अन्धकवंशीय यादवोंके अधिपति हैं। वे अपने पादपद्मोंके आश्रित जनोंके दुःख दूर करने वाले हैं। उनके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। धन तो एक तुच्छ वस्तु है, वे अपने भक्तोंके लिये अपने आपको भी दे डालते हैं।"

सुदामाजीने कहा—"प्रिये! भगवान्के भक्त तो भगवानके देने पर भी मुक्ति तकको ठुकरा देते हैं और तू मुझे उनके पास धन माँगनेको भेज रही है। यह कहाँ की भक्ति है।"

सतीने कहा—"प्रभो! हम धन प्रमादके लिये या विषय भोगोंके लिये तो माँगते नहीं। इस दारिद्रके दुःखसे उनका स्मरण भी तो होता नहीं। यद्यपि भगवद्भक्तोंको अर्थ काम आदि विशेष अभीष्ट नहीं, किन्तु धर्म पूर्वक काम और अर्थका सेवन किया जाय, तो वे सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न होते हैं। जब वे मोक्षके स्वामी हैं, तो उन्हें धन देना कौनसी बड़ी बात है।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब सुदामाजी की पत्नीने उनसे बारबार आग्रह किया, तो सुदामाजीने सोचा—"जब इसका इतना आग्रह है, तो लाओ द्वारका हो ही आवें। मैं जाकर उनसे धन तो माँगूगा नहीं, फिर भी इसकी बात रह जायगी। मुझे एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि श्यामसुन्दरके दर्शन हो जायँगे।" यही सब सोचकर द्वारकापुरी जानेका मनमें निश्चय करके वे

अपनी पत्नीसे बोले—"अच्छी बात है, जब तू नहीं मानती, तो मैं द्वारका चला जाऊँगा, किन्तु शास्त्रकारोंका कहना है, राजाके

यहाँ, ब्राह्मणके यहाँ, गुरुके यहाँ तथा वैद्य, ज्योतिषी तथा मित्रके यहाँ रिक्तहस्त न जाना चाहिये। कुछ न कुछ लेकर जाना

चाहिये। इसलिये तेरे घरमें कुछ उपायनके लिये हो तो दे दे।"

सतीने सोचा—"यह एक नयी विपत्ति सिर पर आयी। जैसे तैसे तो इन्हें जानेके लिये उद्यत किया है। यदि कुछ देनेको न होगा, तो इन्हें कहनेको हो जायगा कि मैं तो जानेको तत्पर ही था, तैंने कुछ उपायन नहीं दिया। रीते हाथों मैं मित्रके यहाँ कैसे जाऊँ।" यह सोचकर वह घबराई, किन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा। उसने कहा—"अच्छी बात है, आप ठहरें, मैं कुछ लाती हूँ।" यह कहकर वह अपनी एक सहेलीके समीप गयी और बड़ी दीनतासे बोली—"बहिन! तुम सदा मेरी सहायता करती रही हो, आज और कर दो। फिर मैं तुम्हें कभी कष्ट न दूँगी। चार मूंठी चिउरा मुझे दे दो।"

सतीके दीन मुख और विनयपूर्ण वचनोंको सुनकर उस स्त्री को दया आ गयी। उसने चार मुट्ठी चिउरा ब्राह्मणीको दे दिये। ब्राह्मणीने लाकर उन्हें भूना। नमक मिलाया और एक अत्यंत फटे पुराने कपड़ेमें चारों ओरसे लपेट कर गेंदकी भाँति सीं दिया। उस पोटलीको देते हुए कहा—"देखिये, ये ही चिउरा हमारी भेंट हैं। आपको देनेमें लज्जा लगे तो मेरी ओरसे दे देना। कह देना "तुम्हारी भाभीने यह भेजा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस चिउराकी पुटलीको लेकर सुदामाजी द्वारकाकी ओर चल दिये। उन्हें अपनी दरिद्रता पर दुःख भी था और भगवान्के दर्शन होंगे इसकी प्रसन्नता

थी। मुझे भगवान्‌के कैसे दर्शन होंगे, यही सोचते सोचते वे आगे बढ़े। अब जैसे वे द्वारका पहुँचेंगे वह कथा प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

दारिद दुख अति दुसह भयो तब सती सुझायो।
हैं यदुनन्दन सखा देव! बहुबार बतायो॥
क्यों न द्वारकानाथ निकट हे प्रियतम! जावें।
दीन बन्धु ढिँग जाइ दुसह दुख क्यों न सुनावें॥
द्विज बोले—"धन हेतु हरि, ढिँग कबहूँ नहिं जाउँगो।
बिना अन्न मरि जाउँगो, तऊ न उदर दिखाउँगो"॥

—※—

द्वारका की ओर

(११६५)

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥ *
(श्रीभा० १० स्क० ८० अ० १५ श्लो०)

छप्पय

बिबिधि भाँति समुझाइ द्वारका भेजे द्विजवर ।
चूरा मुट्ठी चार माँगि दीये अति सत्वर ॥
दाबि बगल महँ भेंट चले द्विज लठिया टेकत ।
डगमग डगमग परै पैर हाँपत मग देखत ॥
तरुतर सोये श्रान्त ह्वै, तनु जरजर मग अति विकट ।
लाइ सुवाये शक्ति हरि, पुरी द्वारका के निकट ॥

यह जीवन क्या है, आशा निराशा का द्वंद युद्ध है । जो काम हम नहीं करना चाहते, वही किसी विवशता से करना पड़ता है । जिस कामको करना चाहते हैं प्रतिकूल परिस्थितियोंके कारण उसे कर नहीं सकते । किसी से बहुत आशा करते हैं, उससे निराश होना पड़ता है जहाँ से निराश हो चुके हैं, वहाँ काम बन जाता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पत्नी के दिये हुए चिउराओं को लेकर विप्रवर सुदामाजी द्वारकाकी ओर चले । वे मन ही मन यह सोचते जाते थे, कि मुझे भगवान् के दर्शन कैसे होंगे ?"

हैं। यह द्वन्द निर्धनों के ही हृदय में उठता हो, सो भी बात नहीं निर्धन हो धनी हो, पंडित हो मूर्ख हो। छोटा हो बड़ा हो सबके ही हृदय मे द्वन्द होता रहता है। इस द्वंदमें एक ही बड़ा लाभ है, वह है मित्रों के दर्शन। यदि संसार में कोई सच्चा मित्र मिल जाय, तो यह नीरस संसार भी सरस बन जाय, किन्तु इस जगत में सच्चे सुहृद, निस्वाथ प्रेमी मिलते नहीं जो प्रेम के ही लिये प्रेम करें। किसी हेतु स स्वार्थ वश प्रेम करनेवाले प्रेमी नहीं, वे तो व्यापारी हैं मिथ्या प्रेम.प्रदर्शित करके संसारी मिथ्या पदार्थों का वे चाहते हैं। निस्वार्थ सच्चे प्रेमी के तो स्मरण मात्र से रोमाञ्च हो उठते हैं। जिसके चित्त में मित्र की मूर्ति बस गयी है, उसका चित्त चंचल या दुखी कैसे हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सुदामा जी की पत्नीने उनसे बारबार द्वारका जाने का आग्रह किया, तो वे बगल में चिउरों की छोटी सी पुटली को दबाकर द्वारका की ओर चले। मैली पगड़ी जो उनके पिता के सामने की थी वह उन्होंने सिर पर लपेट ली। फटी पुरानी अँगरखी, जिसको तनियाँ भी टूटी हुई थीं वह उन्होंने शरीर में पहिन ली। हाथ में सटकिया और कंधे पर डोर लुटिया डालकर वे यात्रा के लिये चल दिय। द्वार तक उनकी पत्नी आयी। उसने द्वार पर आकर देवी देवताओं से अपने पति की मङ्गल कामना के निमित्त प्रार्थना की। भगवान् से मनाया कि मेरे प्राणनाथ को मार्ग में कोई कष्ट न हो, उनकी यात्रा सुखप्रद हो। इस प्रकार अपने पति को विदा करके सती तो घर में लौट आयी और सुदामा जी द्वारका की ओर चल दिये।

एक तो कृश शरीर, वृद्धावस्था तिस पर भी कई दिनोंसे उन्होंने खाया नहीं था। वे लठिया टेकते टेकते चलते थे, चलने मे उनके पैर लड़खड़ाते थे। हृदय में द्वंद युद्ध हो रहा था। मनुष्य

स काम में मन से प्रवृत्त हो जाता है, फिर उसी के सम्बन्ध में चता रहता है। उसी बात की ऊहापोह करता रहता है। सुदा- जी भगवान् की मैत्री को भूल गये हों, सो बात नहीं। उन्हें गवान् की एक एक बात स्मरण थी, वे एकान्त में बैठकर भग- न् का मन मोहिनी मूरतिका ही चिन्तन करते रहते। वाणी से के ही नामों का भुवन मोहन गुणों का गान करते रहते। हृदय उनके दर्शनों की बारम्बार लालसा उठती, किन्तु अपनी स्थिति चकर रुक जाते। इस मलिन वेष से फटे पुराने वस्त्रों से मैं वान् के यहाँ चलूँगा तो सब मेरी हँसी उड़ावेंगे। भगवान् । भी संकोच हो सकता है। जो सेवक स्वामी को संकोच में लता है, वह सच्चा सेवक नहीं है। मेरे कारण भगवान् की ही सी उनके मुँह लगी पत्नियाँ करें तो यह बड़े दुःख की बात गी। मन से तो मैं सदा उनसे मिला ही रहता हूँ। हृदय कमल स्थित उनकी मनोहर मूर्ति का तो मैं निरन्तर दर्शन करता ही इस दरिद्र वेष से द्वारकाधीश के यहाँ जाना उपयुक्त नहीं।" ही सब सोचकर वे रह जाते कभी द्वारका जाने का नाम भी लेते।

जब पत्नी ने उन्हें बहुत ही विवश किया तो उन्होंने सोचा— "जिस के साथ जीवन काटना है, उसकी बात अपने अनुकूल न भी हो, तो भी उसे मान लेना चाहिए। पति यदि पत्नी की बात मानकर उसकी इच्छानुसार काम कर देता है, तो उसका प्रेम और अधिक बढ़ जाता है, उसे गर्व हो जाता है मेरे पति मेरी बात मानते हैं। इसलिये इसकी बात मानकर द्वारका चला तो जाऊँ, किन्तु भगवान् से मैं धन की याचना न करूँगा। यह तो स्त्री है व्यवहार की बातों को समझती नहीं। भला, कहीं मित्र से धन माँगा जाता है। अधम पुरुष धन के लोभ से मित्रों से मिलते हैं। मनस्वी पुरुष एक बार आपत्ति विपत्ति पड़ने पर

अपरिचितों से याचना भले ही करले, किन्तु परिचितों सम्मुख हाथ फैलाने का उसका साहस नहीं होता। अपमान की रक्षा तो परिचितों में ही की जाती है। हमारा परिचय नहीं, वहाँ कोई हमें पीट भी दे, तो भी कोई नहीं, किन्तु परिचित कोई कड़ी बात कह दे, तो उसमें भी बड़ा अपमान प्रतीत होता है। सुख दुख तो भाग्य वश है। भगवान् तो घट घट की जानने वाले हैं। उनसे छिपा क्या है। स्त्री का आग्रह द्वारका जाने का है, सो द्वारका में जा रहा हूँ। आज मेरी बहुत दिनों की लालसा पूरी होगी। आज सच्चिदानन्दघन विग्रह के दर्शनों से अपने को कृतार्थ करूँगा

फिर सोचने लगे—"मुझे भगवान् के दर्शन होंगे, भी नहीं। वे तो राजाधिराज हैं, महलों में रहते होंगे। पहरे लग होंगे, कौन मुझ दरिद्र को उनके समीप जाने देगा। द्वारपाल मे वेष देखकर ही रोक लेंगे। अच्छी बात है, रोकलें। मैं द्वार बैठा रहूँगा, कभी तो वे महलों से निकलते होंगे। उसी स उनसे भेंट कर लूँगा। वे मुझे पहिचान तो जायँगे ही किन्तु ब बहुत पुरानी हो गयी है, संभव है भूल गये हों। भूल गये ह तो मैं याद दिला दूँगा।"

इस प्रकार मनोरथ करते हुए वे सटकिया टेकते टेकते आ बढ़े। नगर से कुछ ही दूर चलकर वे थक गये। अब उनमें लने की शक्ति नहीं रही। सती ने कुछ चबैना इन्हें भी दे दि था, कि मार्ग में इसे चबाकर पानी पीलें। सुदामा जी ने दे आगे मार्ग में एक बड़ा सुन्दर शिवालय बना है। सघन वट छाया है. सुन्दर पक्का कूप है। अभी वे नगर से एक कोस नहीं आये थे, तो भी उन्हें ऐसा लगा मानों मैं बहुत मार्ग कर आया हूँ। चलते चलते उन्हें प्यास लगी। कंधे से लुटि डोरी उतारी डोर को खोल कर लुटिया को फांसे से कस

होने कूए में फाँसा पानी खींच कर हाथ पैर धोए, कुल्ला किये र लोटे को माँजा पानी खींच कर एक ओर बैठ गये । कपड़े

को गाँठ में कुछ चबैना बँधा था, उसे खोलकर चबाया, ऊपर से एक लोटा जल पिया। मार्ग में चलने से वे श्रमित हो गये थे।

वट के नीचे पड़ गये। पड़ते ही उन्हें निद्रा आ गयी और गये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब तक जीव भगवान् की ओर बढ़ता नहीं है, तभी तक उसे दुःख होता है । जहाँ उसने भगवान् की ओर पैर बढ़ाया कि उसके सब दुःख शोक नष्ट हो जाते हैं। भगवान को स्वयं ही उसके योग क्षेम की चिन्ता हो जाती है। भगवान् ने देखा सुदामा मेरे समीप आना चाहता है, वह मुझ से मिलने चल दिया, यदि ऐसे ही एक एक कोस चलेगा । तो न जाने कब तक मेरे समीप पहुँच सकेगा अब अपने भक्त को किसी प्रकार का कष्ट न हो । जो एक पग मेरी ओर बढ़ता है, उसे मैं निन्यानवे पग बढ़कर अपना लेता हूँ। यही सोचकर भगवान् ने योग माया को बुलाकर आज्ञा दी—"मेरे भक्त सुदामाको ज्यों का त्यों उठाकर द्वारकाके उपवन सुला दो।" भगवान् की आज्ञा पाकर योग माया एक क्षण सुदामाजी को उठा लायी। उसने भगवान् के महलों के सम्मुख वड़ा सुन्दर उपवन था, उसी में लाकर हरी हरी दूबपर उन्हें सुला दिया। कुछ कालमें जब उनकी आँखें खुलीं तो वे भौंचक्के रह गये। आँखें फाड़ फाड़ कर चारों ओर देखने लगे, सुवर्ण बने हुए सहस्रों महल खड़े हैं। वन, उपवन सरोवर तथा आराम से वह स्थान घिरा हुआ है। चारों ओर दिव्य सुगन्धि फैली हुई है। सुदामा जी ने पास में काम करने वाले मालियों से पूछा- "क्यों भाई ! यह कौन सी नगरी है ? यहाँ से द्वारका जी कितनी दूर है ?"

मालियों ने हँसते हुए कहा—"महाराज ! कहीं गहरी भाँग छानकर आये हो क्या ? द्वारका में बैठे हो, और द्वारका की बात पूछ रहे हो ?"

चौंक कर सुदामा जी ने कहा—"अरे, हैं, यह क्या ? मैं द्वा

रका में आगया ? कैसे आगया ? सोते सोते ही आगया । बड़ा आश्चर्य है । भैया, यहाँ श्रीकृष्ण चन्द्र का घर कहाँ है इन इतने ऊँचे ऊँचे घरों में मुझे श्रीकृष्ण का घर कौन बतावेगा ?"

हँस कर मालियों ने कहा—"महाराज ! जान पड़ता है, आप पहिले ही पहिल आये हैं । ये सब के सब घर श्रीकृष्ण चन्द्र के हैं उनके सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ हैं ।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए सुदामा बोले—"अरे, दय्यारे दय्या ! सोलह सहस्र रानियाँ । मेरे घर में तो एक ही ब्राह्मणी है । अब इन सोलह सहस्र महलों में कृष्ण को कहाँ खोजूँगा । मैं तो जाते जाते ही थक जाऊँगा ।"

मालियों ने कहा—"महाराज ! आपको खोजनेकी आवश्यकता नहीं यह जो सामने का महल है, यह सबसे बड़ी महारानी रुक्मिणी जी का ही निवास स्थान है । आप इसमें चले जायँ । वहाँ आप को भगवान के दर्शन हो जायँगे ।"

सुदामा जी ने सरलता के साथ कहा—"भैया ! इसमें मुझे भीतर कौन जाने देगा । मुझे तो यहाँ से दीख रहे हैं । बड़ी बड़ी संगीनों वाले पहरे वाले इधर से उधर घूम रहे हैं ।

मालियों ने कहा—"महाराज ! ब्राह्मणों के लिये जाने की मनाही नहीं है । आप निर्भय होकर भीतर चले जायँ ।"

यह सुनकर ब्राह्मणको कुछ कुछ धैर्य हुआ । वे अपनी लटकिया को टेकते टेकते आगे बढ़े । भगवान् के यहाँ सात ड्योढ़ियाँ लगती थीं । पहिली तीन ड्योढ़ियों में तो शस्त्र सैनिकों की छावनियाँ पड़ी रहती थीं । भीतर की तीन ड्योढ़ियों में हाथ में बेत लिये हुए केवल दौवारिक रहते थे । सशस्त्र सैनिक अस्त्र शस्त्र और वस्त्रों से सुसज्जित इधर उधर घूम रहे थे । सुदामा जी का हृदय धक धक कर रहा था । वे सोच रहे थे-मेरी स्त्री ने मुझे व्यर्थ झंझट में फँसा दिया । बताओ यहाँ इतनी भीड़ भाड़ में मुझे

कौन पूछ सकता है। ये कितने सैनिक एकसे वस्त्र पहिने हुए घूम रहे हैं। ये मुझे भीतर क्यों जाने देंगे। यह सोचकर वे द्वार पर बैठ गये। इतने में ही उन्हों देखा तिलक छापे लगाये पीताम्बर ओढ़े बहुत से ब्राह्मण भीतर जा रहे हैं। उनको सैनिक रोकते नहीं। वे सब बिना रोक टोक के जा रहे हैं। तब उन्होंने विश्वास हो गया कि यहाँ ब्राह्मणों की रोक टोक नहीं है। कुछ समय के पश्चात् फिर एक ब्राह्मणों का दल आया। अब के उन सबके साथ सुदामा जी भी भीतर घुस गये। वे ब्राह्मणों के बीच में इस प्रकार जा रहे थे, कि कोई उन्हें देख न ले। तीनों सैनिक पहरे वाली ड्योढ़ियों को वे ब्राह्मणों के साथ पार कर गये। फिर तीन बिना शस्त्र के पहरे द्वारों की ड्योढ़ियों को भी वे पार कर गये छटी ड्योढ़ी पर जाकर सब ब्राह्मण रुक गये। दानाध्यक्ष सबको दान दे रहा था। जो जिस वस्तु की याचना करता उसे वही वा दी जाती।

सुदामा जी चुप चाप खड़े थे। प्रधान प्रहरी ने सुदामा ज से पूछा—"कहिये, महाराज! आप क्या चाहते हैं?"

सुदामाजीने कहा—"मैं तो श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलना चाहता हूँ

प्रधान प्रहरी ने पूछा—"उन से मिलकर आप क्या कीजिये गा। जो आज्ञा हो, हम से कहें। जिस वस्तु की आप इच्छा करेंगे उसे हम दे देंगे।"

सुदामा जी ने कहा—"मुझे किसी वस्तु की आवश्यकत नहीं। श्रीकृष्ण मेरे मित्र हैं सगे सम्बन्धी हैं, मैं उनसे भेंट कर ही आया हूँ।"

चौंककर प्रधान प्रहरी ने पूछा—"भगवान आपके मित्र हैं उनसे आपकी कब मित्रता हुई। उनसे आपका क्या सम्बन्ध है वे आपके क्या लगते हैं।"

सुदामा जी ने कहा—"हम और वे साथ साथ अवन्ती

नगरी में पड़े हैं, तब की तो हमारी उनकी मित्रता है, और सम्बन्ध में वे हमारे साढ़ू लगते हैं। उनकी बड़ी सालीका हमारे साथ विवाह हुआ।"

यह सुनकर सब लोग हँसने लगे। सब ने पूछा—"महाराज आपकी धर्मपत्नी किस राजा की पुत्री हैं। भगवान की तो सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ हैं। उनकी किस पत्नी की बहिन के साथ आपका विवाह हुआ है ?"

सुदामा जी ने कहा—"मेरी पत्नी जल निधि समुद्र की बड़ी पुत्री दरिद्रता है और उसकी छोटी बहिन लक्ष्मी के पति द्वारका नाथ हैं, तो हमारे साढ़ू हुए या नहीं ?"

यह सुनकर सब खिल खिलाकर हँस पड़े। कुछ लोग कह रहे थे, इन्हें भगवान् के पास जाने दो, अत्यंत ही दीन हीन हैं। कुछ लोग कह रहे थे—"कुछ याचना ही करने आये होंगे। ब्राह्मण को ब्रह्माजी ने याचना के ही लिये बनाया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् का महान् ऐश्वर्य देखकर सुदामा जीको बड़ा कौतूहल हो रहा था, भगवान से मिलने की उनकी उत्कण्ठा पल पलपर बढ़ रही थी। अब जिस प्रकार भगवान् की और सुदामाजीकी भेंट होगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह अत्यंत ही करुणा पूर्ण रोमाञ्चकारी प्रसङ्ग है।"

छप्पय

जागे, पूछें कहाँ द्वारका कृष्ण रहें कित।
भौंचक्के से लखें परम विस्मित ह्वै इत उत॥
लोगनि दयो बताइ रुकिमिनी महलनि आये।
द्विजनि सहित छै द्वार लाँघि हिय अति हरषाये॥
मित्र मिलन की चपटटी, लगी सबनि तैं द्विज कहत।
कृष्ण हमारे सखा हैं, हम उनि तैं मिलि बो चहत॥

श्रीकृष्ण सुदामा सम्मिलन

(११६६)

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ *

(श्री भा० १० स्क० ८० अ० १८ श्लो०)

छप्पय

सब सेवक मुनि हँसहिं व्यंग करि करि बतरावें।
भोरे भारे विप्र सरल चित बात बतावें॥
प्रिया सहित प्रभु पलँग पधारे दीठि परी जब।
दौरे ह्वैकें विकल बिसारी तन सुधि बुधि सब॥
दोऊ भुजा पसारिकें, चिपटाये हिय तैं तुरत।
मित्र मित्र पुनि पुनि कहत, नेह नीर नयननि बहत॥

प्रेममें नियम नहीं रहता। प्रेममें बड़प्पन नहीं रहता। प्रेममें संकोच नहीं रहता प्रेममें भेद भाव नहीं रहता। हम ऐसा करेंगे, तो लोग क्या कहेंगे, हमारी प्रतिष्ठामें बट्टा लग जायगा, हमारा प्रभाव घट जायगा। ऐसे विचार प्रेममें आते ही नहीं। सच्चे प्रेमीको देखकर हृदय अपने आप विवश हो जाता है। बिना

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी दूरसे ही सुदामाजीको देखकर तुरन्त संभ्रमके साथ अपनी प्रिया के पलँगसे उठ पड़े और आगे बढ़कर अत्यंत ही हर्षके साथ उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर गलेसे लगा लिया।

प्रयत्नके हृदय हृदयसे सट जाता है। आँखें बहने लगती हैं और शरीरका प्रत्येक रोम खड़ा हो जाता है। अंग अंगमें एक प्रकार की विचित्र विस्फूर्ति आजाती है। हृदयमें प्रेमका उफान आनेपर मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। चित्त चाहता है प्रेमीको अपनेमें मिलाकर एक करलें द्वैधीभाव रहता ही नहीं। कुछ लोग प्रेमकी इन चेष्टाओंको दम्भसे भी करते हैं, किन्तु हार्दिक भावों को हृदय तुरन्त ग्रहण कर लेता है। बनावट अधिक दिन तक नहीं रहती। जिनके हृदयमें प्रेमकी तरङ्गें उठती हैं नेहकी हिलोरों से जिनका हृदय द्रवीभूत हो गया है। नवनीतकी भाँति स्निग्ध और कोमल बन गया है, वे नर नहीं, नरोत्तम हैं, पुरुष नहीं, पर मेश्वर हैं। प्रेम ही तो भगवान्का रूप है। प्रेममें और प्रभुमें कोई अन्तर नहीं, भेद भाव नहीं, भिन्नता नहीं। हृदयमें प्रेम उत्पन्न होते ही हरि दौड़कर उसे हृदयसे चिपटा लेते हैं और वे स्वयंभी प्रेमी बनकर नेहका नीर बहाते हैं। प्रेमीको प्रभु अपनेमें नहीं मिलाते स्वयं उसकी भाँति बनकर उसे अपना लेते हैं। यही उन महतोमहीयानको महत्ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजकर्मचारी कैसे भी सरल और सज्जन क्यों न हों, उनमें प्रायः कुछ न कुछ उद्धतता रहती ही है। इसमें उनका कुछ दोष नहीं। बात यह है, कि उनके पास जो भी आते हैं अर्थी ही आते हैं। अर्थी दूसरोंकी विवशताकी ओर ध्यान नहीं देता। उसे तो अपने कामको सिद्ध करनेकी चिन्ता रहीत है। वह बार बार एक ही बातको कहता है और समय पड़ने पर ऐसे भाव व्यक्त करता है, कि हमारी उच्च अधिकारियों तक पहुँच है। नित्य सुनते सुनते कर्मचारी अभ्यस्त हो जाते हैं और उनपर ऐसी बातोंका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

जब सुदामाजीने यह कहा कि श्रीकृष्ण हमारे मित्र हैं, तो

सभी उनसे अट संट प्रश्न करने लगे। सरल सीधे ब्राह्मण राज-कर्मचारियोंकी व्यंग बातोंको क्या समझें। वे सरलतासे सब बातोंका उत्तर देते। लोग उनके सीधेपन पर हँस जाते तथा और भी प्रश्न करते। सीधे सादे लोगोंको बनानेमें कुछ लोगोंको बड़ा आनन्द आता है, विशेषकर चंचल प्रकृतिके युवक और युवतियों को यदि कहीं कोई सरल सीधा आदमी मिलजाय तो ये उसकी हँसी बहुत उड़ाते हैं।

सातवीं ढयोढ़ी पर ही भगवान्‌का अन्तःपुर था। उसमें सर्व-साधारण लोग तो जा ही नहीं सकते थे विश्वस्त नौकर, उद्धवादि परम विश्वासनीय मंत्री, साधु ब्राह्मण और रानियाँ इतने ही लोगोंका वहाँ प्रवेश था। प्रायः वहाँ ऐसे ही लोग जा सकते थे, जिनके सम्मुख अन्तःपुरकी स्त्रियोंको परदा न करना पड़े। जिनके सम्मुख बिना संकोचके आ जा सकें। भगवान्‌के बैठनेका जो भवन था वह उस आँगनसे सटा ही हुआ था। बाहर जो दान धर्म, पूजन आदि हो, उसे भगवान् बैठे ही बैठे देख सकते थे।

उस समय भगवान् पलँग पर विराजमान थे। उस पलंगके पाये हाथीदाँतके बने थे। उस पर गुदगुदे गद्दे बिछे थे, उनके ऊपर दुग्ध फेनके समान, शुभ्र शंखके समान, बगुलोंकी पंखके समान, हिमकी शिलाके समान, कुंदके पुष्पोंके समान, शारदीय चन्द्रके समान, कामिनीके मृदुल हास्यके समान तथा पुण्यश्लोकों की सुकीर्तिके समान शुभ्र स्वच्छ वस्त्र बिछे थे। छोटे बड़े बहुतसे उपबर्हण (तकिये) रखे हुए थे। पलंग पर उनकी प्रिया भी बैठी थी, उनसे कुछ हँसी विनोदकी बातें कर रहे थे। सहस्रों दासियाँ सेवामें संलग्न थीं सहसा लोगोंकी हँसी सुनकर भगवान् का ध्यान उस ओर गया। उन्होंने सम्मुख अत्यंत फटे पुराने वस्त्रोंको पहिने, लठियाके सहारे खड़े अत्यंतकृशगात्र अपने पुराने सहपाठी तथा मित्र सुदामाको देखा। उन्हें देखते ही वे

आत्मविस्मृत हो गये। वे कब पलंगसे कूद पड़े किसीने देखा ही नहीं। कूदकर भगवान् भागे, सर्वत्र हल्ला मच गया, कोई समझ ही न सका भगवान्को क्या हो गया है। दास दासी पीछे दौड़े इतनेमें हो भगवान्ने अपनी दोनों विशाल भुजाओंके बीचमें सुदामाजीको कस ही तो लिया भगवान्का मंगलमय स्पर्श पाकर ब्राह्मण आनंदमें विभोर हो गये। उन्हें आशा नहीं थी, भगवान्से मेरी भेंट हो सकेगी, किन्तु भगवान्के इस अगाध प्रेमको देख कर ब्राह्मण आत्मविस्मृत हो गया। उस समय भगवान्की दशा विचित्र हो रही थी। उनके कमलके सदृश बड़े बड़े नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी अविरल धारा बह रही थी, जिससे ब्राह्मणके सभी वस्त्र भीग गये थे। उनका शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। वाणी रुद्ध हो गयी थी और वे कसकर अपने प्रिय सखाको हृदयसे चिपकाये हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानों नेत्रों द्वारा उनके रूपको पी जायँगे। समस्त अङ्गोंको अपने अङ्गोंमें एक कर लेंगे।

एक दरिद्र ब्राह्मणके प्रति भगवान्के इस अलौकिक, अद्भुत, अनिर्वचनीय प्रेमको देखकर सबके सब अवाक् रह गये। किसीके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकलता था। हल्ला गुल्ला सुन कर सभी रानियाँ एकत्रित हो गयीं। वे समझ ही न सकीं, कि क्या बात है भगवान् इस दरिद्र ब्राह्मणसे मिलकर ऐसे अधीर और आत्मविस्मृत क्यों हो रहे हैं। बड़ी देर तक वे सुदामाजी को अपने हृदयसे चिपटाये रहे। सुदामाजी भी अबोध बालककी भाँति भगवान्के हृदयसे लगे हुए अश्रुविमोचन कर रहे थे।

कुछ कालमें भगवान्को चेत हुआ वे हाथ पकड़े ही पकड़े सुदामाजीको भीतर ले गये। पलंगपर सिरहाने बिठाकर घरमें भीतर गये। आज सेवक, सेविकायें रानियाँ सब अवाक् थीं, भगवान किसीसे कोई वस्तु मंगाते नहीं, स्वयं अपने हाथों सब वस्तुओंको लाते हैं। वे पूजाके लिये पुष्प, धूप, दीप, अक्षत चंदन

वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा अन्यान्य सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने हाथों से ले आये। सुवर्णकी परातमें सोनेकी झारीसे स्वयं ही लोक पावन प्रभुने ब्राह्मणके पादोंका प्रक्षालन किया। अब रुक्मिणी-जीसे नहीं रहा गया। वे बोलीं—" प्राणनाथ! आज आपको हो क्या गया है सब पूजनोंमें तो आप मुझे साथ बिठाया करते थे, आज मुझे कैसे भूल गये हो। अकेले ही अकेले पूजन कर रहे हो। यह कह कर उन्होंने सुवर्णकी झारी भगवानके हाथ से ले ली। वे टोंटीदार झारीसे जल डाल रही थीं और भगवान आनंदमें विभोर बने ब्राह्मणके पैरोंको धो रहे थे। पैर सूखे सारे थे, वे धूलिमें भरे थे, उनमें बहुत सी बिवाइयाँ फटी हुई थीं। भगवान्ने अपने कमलसे भी कोमल करोंसे उन मल से आवृत ब्राह्मण के खुरदरे पैरोंको शनैः शनैः धोया। फिर नूतन अँगो-छासे उन्हें पोंछा। उस चरणोदकको बड़े आदरसे अपने सिरपर चढ़ाया सम्पूर्ण घरोंमें छिड़कवाया। फिर अर्घ्य देकर आचमन कराके विधिवत उबटन लगाकर स्नान कराया। नया यज्ञोपवीत नये दो सुन्दर रेशमी वस्त्र उन्हें पहिनाये। सम्पूर्ण शरीरमें केशर, कस्तूरी तथा कर्पूर आदिकी गंधसे सुवासित दिव्य गंधमय चन्दन उनके सर्वाङ्गोंमें लगाया। फिर सुगंधित धूप जलाकर तथा सहस्रों दीपक जलाकर उनका पूजन किया। अतिथिको जिस प्रकार गौ अर्पणकी जाती है, उस प्रकार एक कपिला गौ अर्पण की। फिर नैवेद्य, फल अर्पण करके सुन्दर लवंग इलायची तथा कर्पूरयुक्त ताम्बूल उन्हें दिया। बार बार भगवान् कह रहे थे "मित्र! भले आये, भले आये! आज मैं आपका पूजन करके कृतार्थ हो गया।"

रुक्मिणी जी ने देखा आज भगवान् मुझसे कुछ भी सेवा लेना नहीं चाहते, तो वे उन मलिनवसन, अत्यंत दुर्बल कृश गात्र विप्र के ऊपर अपने हाथों से चँवर डुलाने लगीं। नारायण

से दूर रहने पर लक्ष्मी चाहे भले ही रूठी रहे, किन्तु नारायणके निकट आनेपर तो वह दासी की भाँति सेवा में संलग्न रहती है। अपने आप चँवर डुलाती है, जिसने पतिको वशमें कर लिया है, उसकी पत्नी तो अपने आप सेवा किया ही करती है।

अन्तःपुर के तथा बाहरके जितने ब्राह्मण आदि वहाँ समुपस्थित थे, वे सब पुण्यकीर्ति भगवान् श्यामसुन्दरको एक भिक्षुक ब्राह्मणकी इस भाँति अत्यंत अनुराग और तन्मयताके साथ पूजा करते देखकर परस्पर में कह रहे थे—"अहो! यह कितने आश्चर्य की बात है, साक्षात् श्रीपति इस श्रीहीन, निर्धन, लोकनिन्दित, सभ्य समाज द्वारा तिरस्कृत अधम भिक्षुक ब्राह्मण की इतनी तन्मयतासे पूजा कर रहे हैं। भगवान्‌के हृदयका प्रेम समाता नहीं वे अपने आपे को भूले हुए हैं। इसने पूर्व जन्मोंमें ऐसा कौन सा महान् पुण्य अद्भुत वस्तु का दान किया है, जिससे साक्षात् लक्ष्मीजी के आश्रय स्थान जगद्गुरु भगवान्वासुदेव अपने पलंग पर विराजमान कमलारूप रुक्मिणीजी का परित्याग करके ज्येष्ठ बन्धुकी भाँति दौड़कर इसे हृदयसे चिपटाया। ज्येष्ठ बन्धुसे भी बढ़कर आदर किया।

रानियाँ चित्रलिखी मूर्तियोंके समान खड़ी थीं। सेवक अवाक् थे। भगवान् का कण्ठ अवरुद्ध था। सुदामाजी कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कुछ कहने को उनका साहस ही न होता था। भगवान्‌ने चरण धोए उन्होंने कुछ आपत्ति नहीं की, स्नान कराया कर लिया, चंदन लगाया लगवा लिया। वस्त्र चढ़ाये ओढ़ लिये। आरती उतारी, चुपचाप बैठे रहे। ऐसा लगता था मानो व निर्जीव मूर्ति हैं। पूजा करने के अनंतर ब्रह्मण्यदेव भगवानने भूमिमें लोटकर सुदामाजीको प्रणाम किया। फिर सभी ने भगवान् का अनुकरण किया। सब के प्रणाम करने पर भगवान्‌ने कहा—"भैया! चलो, भोजन करें।" यह कहकर

भगवान् स्वयं हाथ पकड़कर भीतर महलोंमें ले गये। रानियोंने खट्टी, मीठी, चरपरी तथा नमकीन वस्तुएँ बनाकर बड़े प्रेम औ अनुरागके साथ भोजन कराया। इतने दिव्य पदार्थों को देखक ब्राह्मण के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अमृतोपम भोजनको पाकर ब्राह्मणके रोम रोम खिल उठे। भोजन करानेके अनन्तर मुख शुद्धि दी। तब भगवान् उन्हें अत्यंत स्नेह से अपनी बैठक में ले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब दोनों भोजनादि से निवृत्त हो गये, तो दोनों में फिर प्रेमकी मीठी मीठी बातें छिड़ीं। दोनों मित्रोंमें जो रसीली रँगीली आनन्द दायिनी बातें हुईं उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

स्वयं पकरि यदुनाथ पलँग पै विप्र बिठाये।
पूजा को संभार स्वयं कर कमलनि लाये॥
करि पूजन सम्मान स्वादु भोजन करवाये।
करें प्रेम अति अधिक सुदामा बहु सकुचाये॥
नेह सहित बैठाइ ढिँग, पुनि पुनि पूछत कुशल हरि।
कहो, लौटि गुरु सदन तें, गृही बने नहिँ ब्याह करि॥

—※—

सुदामा और श्यामसुन्दरकी बातें

(११६७)

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात् ।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८० अ० २८ श्लो०)

छप्पय

भाभी कैसी मिली, मिले मन तुमरो वा ते।
लड़ति भिड़ति तो नाहिँ कान तो करे न ताते॥
कितने बालक भये सबनिके नाम बताओ।
सब घरको वृत्तान्त सुनाओ मति सकुचाओ॥
गुरुकुलके सुखमय दिवस, हाय! स्वपन सम अब भये।
या दिनकी कछु यादि है, ईंधन लैवे वन गये।

संसारमें वैसे तो सभी सगे सम्बन्धी तथा प्रिय जनोंके मिलने से प्रसन्नता होती है, किन्तु जो लँगोटिया मित्र हैं, जिनके साथ अतीत की अनन्त स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं, वे अपने प्रेमी बाल सखा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सुदामाजी का स्वागत सम्मान करने के अनन्तर भगवान् उनसे पूछने लगे—"हे ब्रह्मन्! हे धर्मज्ञ! जब आप गुरु दक्षिणा देकर अध्ययन समाप्त करके घर लौट आये, तब आपने किसी अपने मनके अनुकूल योग्या स्त्रीसे विवाह किया या नहीं?"

मिल जायँ, तब तो कहना ही क्या ? इनके मिलने पर प्रसन्नता साकार रूप रख कर सम्मुख आजाती है। दोनों मिलकर ... में एक दूसरे के हृदय को टटोलते हैं, दुःख सुखकी वातें ... हैं और अतीत की घटनाओं को स्मरण करके प्रमुदित होते हैं। जीवनमें सुख दुख घटनाओंके समय नहीं होता। घटनाएं तो सहसा आती हैं घट कर अनन्त के गर्भमें विलीन हो जाती हैं, सुख दुःख जो भी होता है, उनकी स्मृतियों में होता है। जीवन के सा अनन्त घटनाओं की स्मृतियों की पुटली न हो, तो जीवन शून्य बन जाय। फिर उसमें न तो स्फूर्ति आवे न उत्साह तथा आमोद प्रमोद का ही प्रादुर्भाव हो। जड़के सदृश हो जायँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भोजनोपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण· चन्द्र अपने बालसखा सुदामा को प्रेम पूर्वक हाथ पकड़ कर अपने निजी भवन में ले गये। दोनों एक ही आसन पर सुखसे बैठे। दोनों का अंग परस्परमें सटा था। सुदामा मौन थे। हमारे इन चंचल शिरोमणि श्यामसुन्दर का मुखारविन्द प्रेमके कारण चमक रहा था। इन्होंने बात चीत छेड़ी। हँसते हुए बोले—"कहो भैया ! अब अपने समाचार सुनाओ, अच्छे रहे न ?"

सुदामाजी ने कहा—" हाँ भैया ! समय को धक्का दे रहे हैं, दिन काट रहे हैं।"

भगवान् बोले—"अच्छा, यह बताओ ! हमारा तुम्हारा समा· वर्तन संस्कार तो साथ ही साथ हुआ था। साथ ही साथ गुरुकुल से गुरुजी को दक्षिणा देकर-अध्ययन समाप्त करके लौटे थे। तब से तुमने क्या क्या किया ?"

सुदामाजी ने कहा—"किया क्या भगवन् ! इस पापी पेट को भरा और सोकर समय खोया।'

भगवान् ने कहा—"अरे. भैया ! खाना सोना तो सभी के साथ लगा है। शास्त्रकारों का कहना है, द्विजको कभी एक क्षणके

लिये भी अनाश्रमी न रहना चाहिए। ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके
पने अनुरूप सुन्दर लक्षणों वाली कन्याके साथ विवाह करके
हस्थ धर्मका पालन करना चाहिए। आप यह बताइये कि
ापने किसी ब्राह्मण कन्या के साथ विवाह तो कर लिया है न ?
। वैसेही ठंठनपाल मदन गुपाल बने हो। हम तो आपको बालक-
नसे ही देखते थे, आपकी गृहस्थ की ओर आरम्भसे ही प्रवृत्ति
हीं थी। जैसे आप पहिले थे, वैसे ही निस्पृह अब भी बने हैं।
ापके वेष भूषासे ही विदित होता है, कि आपने धन आदि संग्रह
। किया ही नहीं। विवाह किया कि नहीं। मुझे तो भैया, विवाह
ी ही चिन्ता है देखो, मैंने सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाह
िये हैं ! क्यों कि गृहस्थ धर्म सबसे श्रेष्ठ है, ये जितने जटाधारी
टाधारी, फलाहारी, त्यागी, विरागी, सन्यासी, ब्रह्मचारी, आचा-
। तया अन्यान्य भिक्षोपजीवी हैं, सब गृहस्थके ही आश्रय से
के हुए हैं। इन सबके भरण पोषण का भार गृहस्थोंके ही ऊपर
। इसी लिये गृहस्थ धर्मकी इतनी प्रशंसा है।

सुदामाजी ने कहा—"अजी, महाराज ! गृहस्थ धर्मका पालन
म जैसे दरिद्रोंसे कहाँ होता है। कूकर सूकरों की भाँति आहार,
द्रा,भय मैथुनादि में फँसे रह कर दिन काट रहे हैं घर में
क ब्राह्मणी है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, बताइये भाभी का स्वभाव कैसा
? आपसे लड़ाई भिड़ाई तो नहीं करती। ब्रह्मन् ! घरमें अच्छे
स्वभावकी स्त्री हो, तो धन आदि कुछ भी न रहने पर सब कुछ है
दि स्त्री कर्कशा हुई, बात बातमें क्रोध करने वाली, मुँह फुलाने
ाली, डाँटने डपटने वाली हुई तो सब कुछ रहते हुए भी कुछ
हीं है, पृथिवी पर ही नरक का दुःख है। भाभी लड़ती झग-
ती तो नहीं, तुम्हारे कान गरम तो नहीं करती ? प्रेम पूर्वक सेवा
करती है।"

यह सुनकर सुदामाजी कुछ हँस गये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। रुक्मिणीजी सब सुन रहीं थीं वे वहींसे बोलीं— "तुम्हारे किसीने कान गरम किये होंगे, तभी तुम्हें पता है।"

हँसकर भगवान् बोले—"भैया ! मैं अपनी विपत्ति की बात बताऊँ तो यहाँ अभी महाभारत हो जाय। मेरा दुःख मैं ही जानता हूँ कभी कोई मुँह फुला लेती है, कभी कोई खटपाटी लेकर पड़ जाती है। कभी कोई मणि माँगती है, कोई कहती है हमें स्वर्ग से पारिजात ला दो। इन्हीं झंझटों में मैं तो फँसा रहता हूँ। भाभी तो तुमसे 'यह ला, वह ला' ऐसी बातें न कहती होगी। भैया, यह स्त्री रूपी माया ऐसी प्रबल है कि इसके चक्करमें फँस कर मनुष्य सब कुछ भूल जाता है। गर्भमें की हुई प्रतिज्ञा यहाँकी सब प्रतिज्ञाओंको भूलकर इनका दास बनजाता है। यह गुणमयी माया ऐसी दुस्त्यज है, कि बड़े बड़े ज्ञानी भी इसके मोह को नहीं छोड़ सकते। कोई ऐसे विरले ही महापुरुष होते हैं, जो ईश्वरकी माया से निर्मित इन विषय वासनाओं का परित्याग कर सकें। ऐसे वीतराग पुरुषोंके लिये विवाहकी कोई आवश्यकता भी नहीं। अब देखो, हम तो जानबूझ कर इन स्त्रियोंमें फँस गये। ये सब हमें अपना क्रीड़ा मृग बनाये हुए हैं।"

यह सुनकर रुक्मिणीजी ने कहा—"जेठजी ! आप इनकी बातों का विश्वास न करें, ये बड़े कपटी हैं, ऊपरसे दिखाने को तो ऐसी चिकनी चुपड़ी रँगीली रसीली बातें करते हैं मानों ये हमारे अधीन ही हो गये हैं. किन्तु इन्हें तनिक भी मोह ममता नहीं। स्नेह करना तो ये जानते ही नहीं बड़े निष्ठुर हैं। ये ही सबको नाकोंमें नकेल डालकर नचा रहे हैं और नाम हमारा लगा रहे हैं।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"देख लो, भैया ! तुम्हारे मुँह पर ही मुझे खरी खोटी सुना रही है। बात यह है कि हम तुम कोई

विषयों में आसक्त थोड़े ही हैं। हम सब तो केवल लोकसंग्रह के निमित्त करते हैं।"

रुक्मिणी ने कहा—"तुम लोकसंग्रह के लिये सब खेल करते हो, और हमें दुख देते हो। किसी का खेल हो, किसी का हृदय जले और उलटे हमें ही कलंक लगाते हो।"

भगवान् ने प्रेमके रोपमें कहा—"हम अपने मित्रसे बातें कर रहे हैं, तुम बीचमें क्यों बोलती हो? जहाँ दो बातें कर रहे हों, वहाँ तीसरे को न बोलना चाहिये।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"मैं बोलूँगी और अवश्य बोलूँगी। सेठजी से आप हमारी बुराई क्यों कर रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, भैया! छोड़ो इन लुगाइया की बातों को, अपने गुरुजी की बात करो। हाँ, अच्छा उस दिन की तुम्हें याद है?"

सुदामाजी ने कहा—"किस दिन की महाराज!"

भगवान् बोले—"उसी दिन की जिस दिन गुरुजी के यहाँ ईंधन नहीं था। गुरुआनी माताजी ने हमें कितने प्यारसे बुलाकर कहा था बेटाओ! शाम के लिये घरमें ईंधन तनिक भी नहीं है।"

हम दोनों ने कहा था—"माताजी! आप चिन्ता न करें, हम अभी ईंधन लेने जाते हैं और लेकर अति शीघ्र आते हैं।"

यह कह कर हम दोनों चल दिये। सहसा वर्षाऋतु न होने पर भी बादल घिर आये। कुछ देर बूँदा बाँदी हुई, फिर मूसलाधार जल गिरने लगा। हम एक सघन वनमें वर्षाके कारण घिर गये थे। वर्षा कहती थी, मैं आज ही सब बरसूँगी। आँधी कहती थी, मैं आज ही सम्पूर्ण वेगके साथ चलूँगी। प्रचण्ड पवन के सहित घन घोर वर्षा हो रही थी। तड़ तड़ करके बादल गरज रहे थे। फड़ कड़ करके बिजली चमक रही थी। वर्षा और वायु के भयसे भगवान् भुवन भास्कर अस्ताचलकी ओर भागकर छिप गये

थे। दसों दिशाओं ने तमोमय पट ओढ़ लिया था। सर्वत्र अन्ध
कार का साम्राज्य था। पृथिवी जलके नीचे दब गयी थी। चारों
ओर जल ही जल भर गया था। कहाँ ऊँचा है कहाँ गड्ढा है
तथा कहाँ सम है, इसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। ऐसा प्रतीत
होता था, मानों असमय में प्रलय हो जायगी। हम दोनों अत्यंत
वर्षा तथा प्रचण्ड पवन के कारण परम पीड़ित हो रहे थे। जाड़े
के कारण हम दोनों अचेत हुए एक दूसरे को कसकर पकड़े हु
थे। दिशा विदिशाओं का ज्ञान न होने से इधरसे उधर मारे मा
भटक रहे थे इसी प्रकार हम दोनों ने पूरी रात्रि बिता दी। प्रातः
काल पता पाकर हमारे पूजनीय गुरुजी स्नेह वश हमें खोजते खोज
उसी सघन वनमें आये। हमें शीतसे अत्यंत व्याकुल देख कर
अधीर हो उठे थे। हम दोनों को उन्होंने कितने प्यारसे छाती
चिपटा लिया था हमारे सिरों पर हाथ फेरते हुए वे अत्यंत स्नेह
साथ कहने लगे—"बेटाओ! तुमने हमारे लिये बड़ा कष्ट सहा
देखो, धन दे देना, विद्या दे देना ये कोई बड़ी बातें नहीं हैं। सब
बड़ी बात है सेवा। जो अपने शरीर को होम कर सेवा करता है
वही सबसे बड़ा दाता है। कैसा भी दुखी, सुखी, छोटा बड़ा प्राण
हो, अपना शरीर सब को प्यारा लगता है। कितना भी रुग्ण
आतुर मनुष्य क्यों न हो वह भी मरना नहीं चाहता। प्राणोंक
रक्षा सभी प्राणी चाहते हैं। उन्हीं प्राणों को कुछ भी न सम
कर तुमने हमारी सेवा की, यह सबसे बड़ी बात है। सत्शिष्य
का यही एकमात्र प्रधान कर्तव्य है, कि अपने शरीर को ज्ञान दात
गुरुकी सेवामें लगा दें। गुरु सेवासे बढ़ कर दूसरी कोई भ
सर्वोत्तम दक्षिणा नहीं। जिससे गुरुदेव प्रसन्न हो सकें। तुमने
आज मुझे अपने इस कृत्यसे अपने वशमें कर लिया मैं तुमसे
बहुत सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी समस्त
कामनायें पूर्ण हों, तुम्हारी विद्या इह लोकमें तथा पर लोकमें क

भी निष्फल न हो।"

सुदामाजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! वह घटना कभी जीवनमें भूलने की थोड़े ही है।"

भगवान् बोले—"देखो, सुदामाजी ! हमारी गुरुमाताजी ! कैसी अच्छी थीं हमें कैसा प्यार करती थीं। वे जानती थीं मुझे मूँगकी पकौड़ी अच्छी लगती हैं, इसलिये प्रायः नित्य ही बनाती थीं। उनके हाथके कढ़ी भातमें कितना स्वाद होता था कितने प्रेमसे वे हमें भोजन कराती थीं। इतनी चिन्ता सगी माता भी नहीं कर सकती। उस दिन उनकी प्यारी कपिला गौ खो गयी थी, दो दिन वे कितनी व्याकुल रहीं। तीसरे दिन जब हमने ढूँढ़ कर ला दी, तो वे हमसे कितनी प्रसन्न हुईं। हमें कितना प्यार किया। उस दिन सत्तू फाँकते फाँकते मैं हँस पड़ा सत्तू सब मुखसे निकल गये। वे कितने प्यारसे बोलीं—"अरे, तुम बड़े पगले हो रे।"

हमारे गुरुजी कैसे अच्छे थे उस दिन यज्ञदत्त क्रोधित होकर वनमें चला गया था। गुरुजी ने उस दिन भोजन भी नहीं किया। गुरुकुलमें रहते समय कितनी घटनायें घटित हुयीं, उनको स्मरण कर करके हृदय भर आता है। उन दयालु सान्दीपिनी गुरुकी मन मोहिनी मूर्ति अभी तक हमारे नयनों के सम्मुख नाचती रहती है। गुरुकुल का जीवन कितना सुखप्रद था, तब न कोई चिन्ता थी न दुःख। स्वच्छन्द होकर घूमते थे। कच्चे पक्के जैसे भी फल मिल जाते खा लेते थे। द्विजातियों के लिये गुरुकुल वास ही ज्ञानार्जनके लिये सर्व प्रथम मुख्य कर्तव्य है। गुरुकुलमें रहकर विद्यार्थी सभी ज्ञातव्य बातों को जान जाता है। ज्ञानार्जन करके अज्ञानान्धकार को पार कर जाता है। वही व्यक्ति सत्कर्मों को कर सकता है, जिसने गुरुकुलमें वास करके गुरुदेव की श्रद्धा सहित सुश्रूषा की हो। गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं, वे मेरा ही स्वरूप हैं। जो वर्णाश्रमी हरि रूप गुरुका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनसे सदुपदेश ग्रहण

करते हैं, तो उस उपदेश द्वारा ही अत्यंत सरलता के साथ इस संसार रूपी सागर को बातकी बातमें पार कर जाते हैं। उन्होंने ही जीवन की सार्थकता की है। उन्होंने मनुष्य देहका सच्चा स्वार्थ समझा है। सर्व भूतों का अन्तरात्मा रूप मैं जिस प्रकार गुरु सुश्रूषासे प्रसन्न होता हूँ, उस प्रकार यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, शम, दम तथा अन्यान्य किसी भी साधनसे सन्तुष्ट नहीं होता। आप तो गुरुजी को बड़े प्रेमसे सेवा किया करते थे। आपने तो अपने इस लोक और परलोक दोनों ही बना लिये।"

सुदामाजी ने कहा—"अजी, महाराज! क्या हमने सेवा की है, हम जैसों से हो ही क्या सकता है, किन्तु हे जगद्गुरो! देव देव! हमारे लिये यही बड़े सौभाग्य की बात है आप परमेश्वरके साथ हम पढ़े हैं। आप सत्य संकल्प के साथ साथ हम भी गुरुकुल में वास किया है। इस दृष्टिसे तो हमारा सब कुछ बन गया। यह हमारे लिये महान् गौरव की बात है, कि हम अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक के सहाध्यायी हैं। एक गुरुसे साथ साथ पढ़े हैं। आप केवल हमारे ही ऊपर कृपा करने गुरुकुल पधारे थे। नहीं आपको क्या पढ़ना पढ़ाना था। कल्याणका उद्भवस्थान साक्षात् छन्दोमय वेद ही आपका मूर्तिमान विग्रह है फिर आपके लिये गुरुकुलमें रहने की आवश्यकता ही क्या है। यह भी आपकी केवल लोकलीला मात्र ही है। गुरुकुल वास करके आपने द्विजातियों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार बहुत देर तक उन दोनों मित्रोंमें पुरानी नयी बातें होती रहीं। अब भगवान् ने जिस प्रकार सुदामाजी के अति तुच्छ उपायन को अपना कर उन्हें सब कुछ दे दिया, इस कथा को मैं आगे कहूँगा। आप सब इस सरस प्रसङ्गको प्रेम पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

घर महँ ईंधन नाहिँ कह्यो गुरुआनी जाओ।
बेटा! वन महँ जाइ तुरत ईंधन लै आओ॥
हम तुम दोऊ चलें प्रबल घन आँधी आई।
बरषा भीषन भई नहीं मग परै दिखाई॥
राति बिताई वृच्छतर, भोर भयो गुरु आइकें।
करयो प्यार आशिष दई, हिय लीये चिपटाइकें॥

—❀—

सुदामाजी के चावल

(११६८)

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ *
(श्री भा० १० स्कं० ८१ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

जो गुरु दैके ज्ञान मोक्षको मार्ग बतावें ।
ते हरि हर अज रूप सच्चिदानंद कहावें ॥
अच्छा, भाभी कहा हमारे लीये दीयो ।
अबहीं नहिँ तुम दयो विलम काहे कूँ कीयो ॥
कछु न कहें द्विज लाज वश, श्री हरि वैभव तें चकित ।
बार बार यदुवर कहैं, देहु उपायन प्रिय तुरत ॥

स्वाद वस्तुओं में नहीं होता, प्रेम में होता है । बिना प्रेम अमृत भी पिलाया जाय, तो वह नीरस है स्वाद रहित है, यदि प्रेम सहित विष भी दिया जाय तो वह सरस है सुस्वादु है । कहीं कहीं तो देने पर आग्रह करने पर भी खाने को चित्त नहीं करता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इधर उधर की बातें कह भगवान् ने सुदामाजी से कहा—"हे ब्रह्मन् ! आप घर से मेरे लिये क्या उपायन लाये ? भक्त गण यदि प्रेम पूर्वक मुझे अणुमात्र भी वस्तु देते हैं, तो वह मेरी दृष्टि में प्रेम के कारण बहुत हो जाती है और अभक्त यदि बहुत सी भी भेंट लावें तो वे भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं ।"

चाहें वे कितनी भी सुन्दर वस्तुएँ हों। दुर्योधन ने भगवान् को सेवाके लिये कितनी वस्तुएँ जुटाईं थीं, कितनी तैयारियाँ की थीं। कितना आग्रह किया और कराया था, किन्तु भगवान् ने उसमें से एक दाना भी नहीं उठाया। इसके विपरीत विदुर के घर में स्वयं जाकर स्वयं माँगकर केले के छिलके खाये। यह संसार भाव मय है। वस्तुएँ न कोई बुरी हैं न अच्छी। जिनके प्रति जैसा भाव बन जाता है, वे वैसी ही दीखने लगती हैं। माता, बहिन, पत्नी, पुत्री, बूआ, भाभी सब एक सी स्त्रियाँ हैं। भावना से ही भेद है। किसी वस्तु को देखकर एक को वमन हो जाती है, तो दूसरा ही उसे रुचिके साथ अत्यंत स्वाद के साथ खाता है। भगवान् को वस्तुओं की आवश्यकता नहीं। जिनकी स्वयं साक्षात् लक्ष्मी जी दासी हैं, उन्हें किसी वस्तु की कमी हो ही कैसे सकती है। किन्तु भगवान् भाव के सदा भूखे बने रहते हैं। प्रेम भाव से जो उन्हें कोई नीम का पत्ता भी देना चाहे तो उसे दौड़कर छीन कर आग्रह पूर्वक ले लेते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—"भाव ग्राही जनार्दनः" भगवान् भाव को ग्रहण करने वाले हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामा की पत्नीने जो चारमुट्ठी चिउरा भगवान् को देने के लिये बाँध दिये थे। उन्हें सुदामा जी बगल में दाबकर बड़े यत्न से लाये थे। मार्ग में सोचते आते थे, इन्हें जाकर भगवान् के आगे रखूँगा। प्रार्थना करूँगा, भगवन्! मैं बहुत दरिद्र हूँ, मेरा यही उपायन स्वीकार करें। मैं तो संकोच के कारण ला भी नहीं रहा था, किन्तु ब्राह्मणी ने न माना। जब उसने बहुत हठ की तभी लाया। यद्यपि यह उपहार आपके अनुकूल तो नहीं है, किन्तु मेरी दीनता को दृष्टि में रखकर इसे स्वीकार करलें।" किन्तु यहाँ आकर जो इन्होंने भगवान् का अ-तुल वैभव देखा, तो उनका साहस न हुआ कि उन चिउरों को भगवान् की भेंट करें। उन्होंने सोचा—"इन चिउराओं को

देखकर सब मेरी हँसी उडावेंगे। इसलिये अब इन्हे न दूँगा। लौटाकर घर ले चलूँगा।"

सर्वान्तर्यामी हरि तो सब जानते थे। वे देख रहे थे सुदामाजी की बगल में एक छोटी सी पोटली है, उसे वे दबाये हुए हैं। नहाते समय, खाते समय तथा वस्त्र बदलते समय वे उसे छिपाये हुए रहते हैं। घर घरकी जानने वाले ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्यामसुन्दर समझ गये कि ये सकोचवश इन चिउराओं को नहीं दे रहे हैं अतः वे उनका सकोच छुडाने के लिये मद मंद मुसकराते हुए बोले—"हाँ, ब्रह्मन्! और बातें तो पीछे होंगी, पहिले यह बताइये, कि आप घर से हमारे लिये क्या भेंट लाये ? हमारी भाभी ने हमारे लिये क्या भेजा है ?"

यह सुनकर सुदामाजी सकपका गये। वे बडे लज्जित हुए। न तो वे हाँ ही कर सके और न ना ही वैसे ही चुप चाप बैठे रहे, तब भगवान् फिर बोले—"देखो, भैया! सकोच करने की बात नहीं। यह तो हो ही नहीं सकता हमारी भाभी ने कुछ न भेजा हो कोई भी मित्र अपने मित्र से मिलने जाय, तो उसकी सहृदया पत्नी उसके लिये कुछ न कुछ उपहार अवश्य भेजती है। उस उपहार की वस्तु का कोई मूल्य नहीं। उस में लपेट कर हृदय की भावना दी जाती है। जैसे पान देना होता है, तो उसे एक पत्ते में लपेट कर देते हैं। देने वाले का अभिप्राय पत्ता देने से नहीं है वह तो पान को सुरक्षित रखने का साधन है। उसी प्रकार उपायन की वस्तु में प्रेम भर कर दिया जाता है आपकी कृपा से मेरे यहाँ कोई कमी नहीं है। मैं वस्तुओं का भूखा नहीं प्रेमका भूखा हूँ। मेरे भक्त गण मुझे तनिक सी भी वस्तु देते हैं, किन्तु प्रेम पूर्वक देते हैं, तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है। इसके विपरीत यदि वे छप्पन प्रकार के भोग भी दें मात्रा में भी विपुल दें, तो भी बिना प्रेम की दी हुई भारी भेंट भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर

सकती। मेरे यहाँ प्रसन्नता का माप दण्ड वस्तु की लघुता, गुरुता अथवा छोटी बड़ी से नहीं है। मैं तो भाव ग्राही हूँ, जो पुरुष भक्ति पूर्वक मुझे एक फल भी देता है, फूल, पत्ता, यहाँ तक कि जल ही दे देता है, तो बस प्रेमसे दी हुई वस्तुको मैं प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेता हूँ। इसलिये आप जो भी कुछ लाये हैं, उसे मुझे प्रसन्नता पूर्वक प्रदान कर दें, संकोच न करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् के इस प्रकार बार बार कहने पर भी ब्राह्मण ने वह चार मुट्ठी चिउराओंकी पोटली श्यामसुन्दर को नहीं दी नहीं दी। वे कुछ बोले भी नहीं, भगवान् की बातों का उत्तर भी नहीं दिया, केवल संकोच तथा लज्जावश मुख नीचा किये हुए ज्यों के त्यों बैठे रहे।"

भगवान् ने कहा—"क्यों भैया ! हमारी भाभी ने हमारे लिये कुछ नहीं दिया। अच्छा, कह दो कुछ नहीं दिया।"

इस पर रुक्मिणी जी बोलीं—"आप तो जिसके पीछे पड़ जाते हैं उसे विवश कर देते हैं। किसी के यहाँ लाने को न हो तो, यहाँ आप का कभी पेट ही नहीं भरता वे इतनी दूर से आये हैं उन्हें और कुछ देना चाहिए कि बार बार "क्या लाये हो, क्या लाये हो।" कह कर लज्जित करना चाहिये।"

यह सुनकर व्यंग के स्वर में भगवान् बोले—"रानी जी ! अच्छा होता आप चुप ही रहतीं। प्रत्येक बात में टाँग अड़ाना क्या उचित होता है ?"

रुक्मिणी जी ने कहा—"न्याय की बात तो कही ही जाती है तुम्हें तो जिस बात की भी होती है झख सवार हो जाती है। लेना ही सीखे हो या कुछ देते हो।"

भगवान् बोले—"जी, हाँ ! आपके बाप ने भी बहुत दिया था। लोग बेटी देते हैं, दहेज देते हैं और न जाने क्या क्या देते हैं। सो दहेज देना तो पृथक रहा। तुम्हें भी हम को

पूर्वक नहीं दिया। हम तो अपने बाहुबल से बल पूर्वक छीन झपट लाये। उलटे अपने बेटेको हमें पकड़ लाने भेजा।"

प्रेम के रोष में रुक्मिणी जी बोलीं—"देखो, तुम अब बाप तक पहुँच गये हो यह बात अच्छी नहीं है। लोगों को दूसरों के राई भर दोष पहाड़ से दीखते हैं और अपने पहाड़ जैसे दोष दिखाई ही नहीं देते। मेरे पिता ने तो कुछ नहीं दिया किन्तु नन्दाईजी जब सुभद्रा बीबी को उड़ा ले गये थे, तब तुमने क्या दिया था।"

भगवान् शीघ्रता से बोले—"हमने क्या नहीं दिया। अपना रथ दिया, घोड़े दिये सारथी दिये। ये तब दिये जब तक विवाह नहीं हुआ था।"

रुक्मिणी जी ने कहा—"अब तुम से बातों में तो ब्रह्माबाबा भी नहीं जीत सकते। हमें क्या अच्छा, और माँगो उनसे। उन की नंगा झोरी लेलो। सची बात कहते हैं, तो चिढ़ जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने बार बार भेंट के सम्बन्ध में पूछा और कहा मुझे प्रेम का दिया हुआ पान पत्ता भी अच्छा लगता है, तब सुदामा जी के मन में आया था, इस चिउरों की पोटली को निकाल कर भगवान् के सम्मुख रख दूँ, किन्तु जब पति पत्नी में इतनी कहा सुनी हो गयी, तो तुरन्त उन्होंने अपना विचार बदल दिया। मैंने जहाँ ये चिउरे निकाले, कि यह राजा की छोरी खिल खिला कर हँस पड़ेगी और कहेगी, यही तुम्हारे मित्र की भेंट है।" इस लज्जा से उन्होंने उस पोटली को और भी कस कर दबा लिया।

भगवान् तो समस्त प्राणियों के अन्तः करण के साक्षात् रूप से साक्षी हैं। उन से सुदामाजी के आने का कारण, स्त्री द्वारा दिये हुए चिउराओं की बात छिपी नहीं थी। अतः वे सोचने लगे सुदामा मेरे सच्चे निष्काम भक्त हैं इन्होंने 'प्रकृति के लपेटे

कभी पहिले ही मेरा चिन्तन किया और न अब ही कर रहे हैं। यहाँ यद्यपि ये अपनी पतिव्रता पत्नी की प्रसन्नता के ही निमित्त आये हैं। इनकी पत्नी सम्पत्ति की इच्छा करती है, किन्तु इन्हें तनिक भी इच्छा नहीं। उन चिउरों में धन की कामना छिपी है, इस लज्जा से ये उन्हें नहीं दे रहे हैं, चिउरा देनेका अर्थ है भगवान्से याचना करना इन्हें इस बातका भी संकोच हो रहा है कि इस अत्यल्प भेंट को भगवान् के सम्मुख क्या रखूँ। अच्छी बात है, ये स्वयं नहीं देते तो मैं ही इनसे छीन कर इनके लाये हुए उपायन को ग्रहण करूँगा और बदले में ऐसी सम्पत्ति दूँगा जो स्वर्ग में देवताओं के लिये भी दुर्लभ हो।"

यही सब सोचकर भगवान् ने कहा—"अच्छा, सुदामा जी! भाभी ने कोई भेंट नहीं भेजी, तो कोई बात नहीं है आप हमारे इन चित्रों को तो देखिये, कैसे सुन्दर हैं। कितनी उत्तमता के साथ बनाये गये हैं। यह सुनकर सुदामाजी चित्रों को देखने लगे। चित्र देखते देखते उनका चित्त तन्मय हो गया। उसी समय मैले कुचैले फटे पुराने वस्त्र की पुटलिया में सिले चिउराओं को चुपके से निकाल लिया और हँसते हुए कहने लगे— "आप तो कहते थे, भाभी ने कुछ भेजा ही नहीं, यह क्या है। इस पोटली में क्या बँधा है।"

सुदामा जीने कहा—"अजो, महाराज कुछ नहीं, यह कहकर ज्यों ही उन्होंने हाथ बढ़ाया त्यों ही भगवान् ने झपट कर छीना, त्यों ही वस्त्र फट गया। चिउरा गिरने लगे। भगवान् अट्टहास करते हुए बोले—"ओ हो! ये तो चिउरा हैं! पूरब के लोग तो दही के साथ चिउराओं को बड़े प्रेम से खाते हैं, किन्तु मुझे भी चिउरे अत्यंत प्रिय हैं। फिर वे मित्र के यहाँ से लाये हुए हैं तब तो कहना ही क्या! अहा! यह तो मुझे बड़ी सुन्दर लगे। भाभी ने अत्युत्तम उपहार मेरे लिये भेजा। इन

को खाकर मैं ही तृप्त न हो जाऊँगा, अपितु मेरे आश्रय में रहने वाले समस्त ब्रह्माण्ड तृप्त हो जायँगे।" ये तो सम्पूर्ण विश्व का पेट भर देंगे।" ऐसा कह कर शीघ्रता से भगवान् एक मुट्ठी चबा ही तो गये। ज्यों ही उन्होंने दूसरी मुट्ठी भरकर मुख में डालनी चाही, त्यों ही रुक्मिणी जी डर गयीं कि एक मुट्ठीमें तो ये सम्पूर्ण स्वर्ग की सम्पत्ति दे देंगे, दूसरी इन्होंने खाई तो ये मुझे ही उठा कर सौंप देंगे। अतः दौड़कर उन्होंने पट्ट से भगवान् का हाथ पकड़ लिया। और बोलीं—"महाराज! बड़े स्वार्थी हो आप अकेले ही अकेले सब मेरी जिठानी की भेजी वस्तु को उड़ा रहे हो। हमारा भी तो इसमें कुछ भाग है। पुरुषों को तो कुछ पत नहीं रहता, उन्हें तो खाने से काम। जिनके यहाँ से हमारे लिये भाजी बाइना आता है, उनके यहाँ हमें भी भेजना पड़ता है चार चार चावल सबके लिये भेजूँगी। आपने जितना खा लिय उतना ही पर्याप्त है।"

हँसकर भगवान् बोले—"अब तक तो तुनक रही थीं अ जिठानी की वस्तु पर अपना भी अधिकार जताने लगीं। छोड़ द छोड़ दो मुझे। सत्य कहता हूँ, जितना स्वाद इन चिउराओं में ह उतना स्वाद आज तक किसी भी पदार्थ में नहीं मिला।"

रुक्मिणी जी ने आग्रह के स्वर में कहा—"तभी तो कहती हूँ, स्वादिष्ट वस्तु को अकेले ही अकेले न खाना चाहिये।

हे विश्वम्भर! आपने जितने चिउरे खा लिये हैं, उतने मनुष्यों को इस लोक और पर लोक में सर्व सम्पत्तियों का भो करने के लिये पर्याप्त हैं। यथेष्ठ हैं। इससे अधिक चबाकर औ भी उदारता दिखाकर क्या मुझे भी इनके अधीन कर देना चाह हैं क्या?"

यह सुनकर भगवान् रुक गये। शेष चिउरों को रुक्मिण जी ने अपने अधिकार में कर लिया। उन्होंने चार चार चिउ

के दाने सबके यहाँ भिजवाये। भगवान् पूछ रहे थे—"मित्रवर! इनमें तुम अमृत मिला लाये थे, या सुधा में भिगो लाये थे।

इतने स्वादिष्ट चिउरा तो हमने कभी भी नहीं खाये।"

सुदामाजी लज्जित थे। सहमे हुए थे। उन्होंने कुछ भी उत्तर

नहीं दिया इधर उधर की बातें कह कर भगवान् ने उनका
छुड़ाया। फिर भगवान् ने अपना महल दिखाया। बाग बगी
में घुमाया और सभी प्रकारसे उनका आदर सत्कार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार साधारण चिउरा
को छीन कर खाकर भगवान् ने उन्हें सब कुछ दे दिया।
जिस प्रकार सुदामाजी लौटकर अपने घर जायँगे। वह व
प्रसङ्ग में आगे कहूँगा।"

छप्पय

दये रुकिमिनी कछुक प्रेममय हरिकूँ ताने।
तिनकूँ सुनिकें विप्र और सहमे सकुचाने।
इत उत चित्त बँटाइ बगल तें चिउरा खींचे।
खाये मुट्ठी तुरत कहें ये अमृत सींचे॥
लगे चबावन दूसरी, लयो रुकिमिनी पकरि कर।
कहें— करो का कृपानिधि, मोह कूँ कछु देउ वर"॥

—※—

सुदामाजी की विदाई

(११६९)

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥ ※
(श्री भा० १० स्क० ८१ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

चिउरा मुट्ठी एक साय सब सम्पति दीन्ही ।
मोकूँ हू अस दैन आपुने इच्छा कीन्ही ॥
यों हरि सब कछु दयो न द्विजकूँ प्रकट दिखायो ।
होत प्रात ही विप्र पूछि निज नगर सिधायो ॥
कछुक दूरि पहुँचाइवे, आये हरि हिय लाय कें ।
विदा करे अति विनय तें, अति ही नेह जनाय कें ॥

कैसा भी स्नेह क्यों न हो, जब परिस्थितियाँ विभिन्न हो जाती हैं, तो छोटी परिस्थिति वाले पुरुषोंको संकोच होने ही लगता है । अपनी अन्तरात्मा के साक्षी तो स्वय ही है कहाँ रहनेमें स्वतन्त्रता है, कहाँ हृदय में खटक है । इसके लिये किसी अन्य से पूछना नहीं पड़ता । अपना हृदय ही साक्षी दे देता है ।

※ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'हे तात ! दूसरे दिन प्रातःकाल होने परसुदामाजी अपने घरको चल दिये । स्वानन्द स्वरूप जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उनका अभिवन्दन किया और उन्हें कुछ दूर साथ साथ मार्ग में जाकर विनय पूर्वक विदा किया ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! द्वारका में भगवान् का अपा
वैभव था। सम्पूर्ण ऋद्धियाँ सिद्धियाँ वहाँ हाथ जोडे भगवान् क
आज्ञा की प्रतीक्षा में खडी रहती थीं। सोलह सहस्र रानिय
छम्म छम्म करके इधर से उधर घूमती रहती थीं। सुदामाजी ने दे
वहाँ का वैभव अनिर्वचनीय है। सब लोग उनका आवश्यक
से अधिक मान सम्मान करते हैं। उस दिन वे भोर में ही पहुँचे थे
दिनभर रहे और रात्रि को भी भगवान् के महल में ही सोये
वहाँ रहकर उन्होंने ऐसी ऐसी वस्तुएँ खायीं जो न उन्होंने पहि
कभी देखी थीं, न सुनी ही थीं। ऐसे ऐसे पेय पदार्थ पिये उ
अमृत के सदृश सुन्दर स्वादिष्ट और हृदयको प्रसन्न करने वा
थे। उन्होंने ऐसा अनुभव किया, कि मैं भूलोक में नहीं हूँ साक्षा
स्वर्ग में निवास कर रहा हूँ।

प्रातःकाल हुआ, उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था मानों कि
ने मेरी स्वतन्त्रता छीनली है। गुरुकुल में जिस प्रकार भगवा
से खुलकर बातें होती थीं वैसी बातें वे यहाँ न कर सके, यद्य
भगवान् ने तो उनका आवश्यकता से अधिक स्वागत सत्क
किया, किन्तु स्वयं ही उन्हें संकोच हो रहा था। वे सोच रहे
मुझ दरिद्र को ऐसे स्वर्गीय सुखों के भोगनेका क्या अधिकार है
सर्वान्तर्यामी प्रभु से सेवा कराना अपने ऊपर और पाप चढ़ा
है। मैं जब तक रहूँगा, भगवान् बिना सेवा किये मानेंगे नहीं
उनसे सेवा लेने में मेरा मरण ही हो जायगा। इस लिये अ
यहाँ से शीघ्र ही भाग चलो।" यही सब सोचकर वे श्यामसुन्
से बोले—"भगवान ! अब मुझे जाने की आज्ञा हो।"

भगवान् ने अत्यंत ममता के साथ कहा—"क्यों भैया ! इत
शीघ्रता क्यों ! कितने दिनों के पश्चात् तो मिलन हुआ है। दो च
दिन तो और रहो।"

सुदामाजी बोले—" रहने को तो कोई बात नहीं थी, जैसे ही यहाँ वैसे ही वहाँ, किन्तु ब्राह्मणी अकेली है। वह घबरावी होगी मेरा वहाँ पहुँचना आवश्यक है। आवश्यक न होता, तो मैं आपके आग्रह को न टालता।"

यह सुनकर भगवान् चुप हो गये। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु निकलने लगे। सुदामाजी जो शाल दुशाले ओढ़े, हुए थे, वह उन्होंने उतार कर रख दिये। अपनी फटा पुरानी अंगरखी पहिन-ली। फटी और मैली पगड़ी माथे से लपेट ली और अपनी लट-किया को उठाकर चल दिये। भगवान् भी उनके पीछे पीछे चलने लगे और सहस्रों सेवक भी भगवान्का अनुगमन करन लगे। भगवान् ने सेवकों को लौटा दिया। अकेले ही मित्रके साथ पैदल चले। सुदामाजी बार बार कहते—"अब श्यामसुन्दर! तुम लौट जाओ।" किन्तु भगवान् लौटते ही नहीं थे। नगर के बाहर एक सघन वृक्षकी छाया में सुदामाजो बैठ गये और बोले—"वासुदेव! देखो, भैया! जिनके फिर आने की आशा हो, उन्हें दूर तक पहुँचाने न जाना चाहिए।"

यह सुनकर सच्चिदानंद स्वरूप जगन्नियन्ता भगवान् श्याम-सुन्दर ने सुदामाजी के चरणों में प्रणाम किया, सुदामाजी ने भी रोते रोते उनका गाढ़ालिङ्गन किया। फिर दोनों खिन्न मनसे एक दूसरे से विदा हुए। भगवान द्वारका की ओर लौट आये और सुदामाजी अपनी पुरी की ओर चले।

सुदामाजी को बार बार अपनी कृपणता के ऊपर ग्लानि हो रही थी, वे सोच रहे थे " देखो, भगवान कैसे ब्रह्मण्यदेव हैं, कैसे उदार हैं, उनके समीप मैं तुच्छ धन की आशा से गया था। मेरा तो उनके सम्मुख धन माँगनेका साहस ही न हुआ। उन्होंने भी अपने आप मुझे कुछ धन नहीं दिया। न दिया, तो मुझे तो नहीं। मेरी पत्नी को अवश्य निराशा होगी। वह आशा

बैठी होगी। उसे विश्वास होगा, मैं बहुत सा धन लेकर आऊँगा वह बड़े बड़े मनोरथ कर रही होगी, धन आने पर एक घर बनवाऊँगी वस्त्र लूँगी आभूषण बनवाऊँगी। एक गौ भी रखूँगी। अब जब मैं ज्यों का त्यों रिक्त हस्त उसके सम्मुख पहुँचूगा, तो वह शोक में कातर हो उठेगी। मैं उसके कहने से व्यर्थ आया। अकारण उसे निराशा जनित वेदना होगी।

फिर सोचने लगे—"मेरा तो जन्म सफल हो ही गया। मुझे भगवान् के दर्शन हो गये, यही क्या कम लाभ है। मैं कानों से ही सुना करता था, कि भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्रह्मण्यदेव हैं, किन्तु आज तो मैंने प्रत्यक्ष इसे अपनी आँखों से ही देख लिया। नहीं तो कहाँ मैं महापातकी नाममात्रका नीच भिखारी ब्राह्मण और कहाँ साक्षात् लक्ष्मी के पति भगवान् विश्वम्भर। मेरी उनकी ममता ही क्या? फिर भी उन्होंने केवल जातिका मैं ब्राह्मण हूँ, इसी नाते से मेरा गाढ़ालिङ्गन किया। जिस वक्षःस्थल में साक्षात् भगवती कमला निरन्तर चंचलता का परित्याग करके विहार करती है, उसी वक्षःस्थल में मुझ मलिनवसन दीन-हीन महादरिद्री ब्रह्म बन्धु को सगे बड़े भाई की भाँति चिपका लिया। जिस पलँग पर उनके और उनकी प्रिया के अतिरिक्त कोई पैर भी नहीं रख सकता उसी पलँग पर मुझे अपने साथ कितने आदर से बिठाया। मुझे श्रमित देखकर लक्ष्मीरूपा उनकी परम प्रिया प्रधान पटरानी भगवती रुक्मिणी जी ने अपने अरुण वरण कोमल कर कमलों से मेरा व्यजन किया। मेरे ऊपर चँवर डुलाया। जिनके चरणारविन्द के धोवन से त्रिभुवन को पावन करने वाली भगवती त्रिपथगा सुरसरि प्रकट हुई हैं, उन्हीं विश्वम्भरने श्रद्धा सहित मेरे पैरों को धोया, और उस धोवनको प्रेम पूर्वक सिर पर चढ़ाया। अपने कोमल करों से मेरे मलसे

आकृत कठोर और खुरदरे पैरोंको दबाया। इष्टदेव से भी बढ़कर मेरा आदर सत्कार किया।

अब एक शंका उठ सकती है, जिन भगवान्के चरणारविन्दों का पूजन करके प्राणी अपनी समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण कर सकते हैं। पृथिवी पर, पातालमें स्वर्ग में तथा अन्यान्य बड़े बड़े लोकों में कोई भी दुर्लभसे दुर्लभ सम्पत्ति नहीं जो भगवत् सेवा से प्राप्त न हो सके। अणिमादि ऐश्वर्य यहाँ तक कि मोक्ष भी उनके चरणों की सेवा से मिल सकती है। फिर उन्होंने मुझे धन क्यों नहीं दिया। यद्यपि मेरी आन्तरिक इच्छा धन याचनाकी नहीं थी। तथापि मेरी पत्नीकी तो इच्छा थी ही। वे तो घट घट की जाननेवाले हैं, उसने तो मुझे भेजा ही इसी लियेथा। उसके लिये तो कुछ दे देते, किन्तु उसके लिये भी उन्होंने कुछ नहीं दिया। इसमें भी कोई रहस्य होगा, उनकी कृपालुता इसमें भी छिपी होगी।"

ऐसा सोचते सोचते वे जा रहे थे, कि उसी समय घोर जंगल में उन्हें एक बड़ा सेठ आता हुआ दिखायी दिया। आनर्त देशके जंगली डाकू तो प्रसिद्ध ही थे। उन्होंने उसे घेर लिया और उसका सब धन लूट कर उसे मार भी डाला। सुदामाजी सब देख रहे थे। उनको ओर किसीने देखा भी नहीं। सबने कह दिया—"यह भिखारी है, इसे कुछ अन्न देदो।" यह कहकर वे चोर उलटे अन्न देकर चले गये।

तब सुदामाजी ने कहा—"ओहो! यही बात है, करुणासिन्धु भगवान् ने सोचा होगा—"इसे धन देदें तो मार्ग में इसे कोई लूट लेगा। यदि कोई न भी लूटे और यह धन को लेकर अपने घर सकुशल पहुँच भी जाय तो यह जन्मका निर्धन है। धन पाकर उन्मत्त हो जायगा। अब तक जो मेरा स्मरण कर लेता है धन पाकर फिर वह भी न करेगा।" वास्तव में धन आते ही र...

बढ़ जाता है विषय सुखों में राग हो जाता है। भगवान् का स्मरण छुट जाता है।" धनमें ये ही सब दोष देख कर दयासिन्धु श्यामसुन्दर ने मुझे धन न देकर मेरा उपकार ही किया, मेरे ऊपर कृपा ही की। जिसके पास भगवत् स्मरण रूप धन है उसे अन्य धनकी क्या आवश्यकता और जिसके पास भगवत् स्मरण रूप धन नहीं है उसके पास चाहें जितना भी धन हो वह किस काम का।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इधर सुदामाजी तो यही सब सोचते हुए जा रहे थे, उधर योगमाया और विश्वकर्मा को आज्ञा देकर भगवान् ने सुदामा जी के घर को इन्द्रके भवनों से भी उत्तम बनवा दिया। वहाँ सभी समृद्धियाँ भर दीं। अब जिस प्रकार सुदामाजी अपने समृद्धिशाली घर और अतुल वैभव को देखकर विस्मित होंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मग महँ सोचत जात श्याम आदर अति कीयो।
किन्तु न एक छदाम माखनी कूँ धन दीयो॥
नहीं दियो भल कियो अरथ तैं अनरथ होवे।
द्रव्य पाइकें पुरुष मनुजता ऋजुता खोवे॥
सोचत सोचत नगर ढिग, पहुँचि लगे विस्मय करन।
निरखि असन, पट, गज, तुरग, बहु सम्पति मणिमय भवन॥

—:ॐ:—

सुदामा चरितकी समाप्ति

(११७०)

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री ।
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ॥
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ८१ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

दिव्य अपसरा बनी वस्त्र भूषन तैं सज्जित ।
बहु दासिनि तैं घिरी निहारी नारी हरषित ॥
स्वरगसरिस सम्पत्ति सकल श्रीहरिकी जानी ।
समुझि गये सब रहस कृपा यदुवरकी मानी ॥
सुमिरन करि करि कृपाको, पुलकित तनु बिनती करें ।
जनम जनम हरि सखा बनि, ऐसे ही मम दुख हरें ॥

सहायता जितनी ही छिपकर की जायगी, उसका महत्त्व उतना ही अधिक होगा । अत्यंत प्रेममें दिखावट तनिक भी नहीं रहती ।

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सुदामाजी अपने घरका ऐश्वर्य देख कर भगवान्से प्रार्थना कर रहे हैं—"मुझे जन्म जन्मान्तरोंमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें सौहार्द सख्य, मैत्री और दास्यभावकी प्राप्ति हो तथा महानुभाव और गुणोंके आश्रयस्थान उन भगवान्में ही अनुराग हो और उन्हींके भक्तोंका संग प्राप्त हो।"

जिसमें जितनी ही अधिक दिखावट होती है, उतनी ही उसमें प्रेमकी कमी मानी जाती है। हार्दिक प्रेममें गोपन करनेकी भावना रहती है। हमारे प्रेमको हमारा प्रेमास्पद जान न सके। हमारी सेवाको समझ न सके। हमारी सहायता उसकी दृष्टिमें न आने पावे। बच्चा रातमें सो जाता है, माता उसे उठाकर गोदमें लिटा कर दूध पिला देती है। बच्चा प्रातःकाल रोता है, हमने रात्रिमें दूध नहीं पिया। माता हँसकर कहती है—"अब पीले" वह यह जताना उचित नहीं समझती मैंने रात्रिमें तुझे दूध पिलाया था। बहुतेरे प्रेमियों को देखा है, वे इस ढँगसे अपनी वस्तुओंको भेजते हैं, कि हमारे प्रेमास्पदको पता न लगे, अमुक वस्तु कहाँसे आयी है। जैसे देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, वैसे ही प्रेमका आदान प्रदान जितना ही छिपकर परोक्षमें किया जायगा, उतना ही उसका महत्व बढ़ेगा जहाँ विज्ञापन है दिखावट है ढिंढोरा पीटना है, प्रकाशित करना है वहाँ स्वार्थ है कीर्तिकी इच्छा है, ख्यातिकी भावना है दम्भ है। प्रेमसे यह दूरका बात है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामाजी अनेक प्रकारकी बात सोचते हुए तथा भगवान्के अपूर्व प्रेमका स्मरण करते हुए मार्गमें चल रहे थे। चलते चलते वे अपने घरके निकट पहुँचे दूरसे ही उन्होंने देखा, मेरी टूटी फूटी झोंपड़ीका कहीं पता है नहीं। उसके स्थानपर एक बड़ा भारी विशाल भवन खड़ा हुआ है। वह सात खण्डका भवन सूर्यके समान, पूर्णचन्द्रके समान तथा प्रज्वलित अग्निके समान देदीप्यमान होरहा है। उसमें एकसे एक भव्य भवन बने हुए हैं। उसके आस पास फलों और पुष्पोंसे नमित असंख्यों वृक्षों वाले उपवन लगे हुए हैं। आराम और उपवनोंसे वह विशाल भवन अत्यंत ही शोभायुक्त बन हुआ है। बीच बीचमें सुन्दर स्वच्छ शीतल सलिल वाले

पुष्करिणियाँ बनी हुई हैं। जिनमें हंस, सारस, चकवाक तथा अन्यान्य जल जन्तु किलोलें कर रहे हैं तथा कुमुद, अम्भोज, कल्हार और उत्पल आदि नानाप्रकारके कमल खिलरहे हैं। चारो ओर दिव्य सुगन्धि फैली हुई हैं। सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहिने सहस्रों दास दासी कानोंमें मणिमय कनक कुण्डल धारण किये इधरसे उधर आ जा रहे हैं। जिस प्रकार स्वर्गमें अप्सरायें विहार करती हैं, उसी प्रकार यहाँकी अत्यंत सुकुमारी, सुन्दरी मृगनयनी दासियाँ अपने नूपुरोंकी झंकार से उस विशाल भवनको मुखरित करती हुई घूम रहा हैं।

उस इतने वैभवशाली विशाल मणिमय भवन को देखकर और वहाँके अभूतपूर्व ऐश्वर्यको देखकर सुदामाजी हक्के बक्के से होकर परम विस्मय के साथ चारों ओर निहारने लगे। वे सोचने लगे—"मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ।" फिर उन्होंने आँखे मलीं। सोचा—"स्वप्न नहीं है, मैं तो जागा हुआ हूँ।" तो फिर सोचने लगे—'अहो! मैं मार्ग भूलकर किसी दूसरे राजाकी राजधानीमें आगया। किन्तु भूलोकके तो किसी भी राजाका ऐसा ऐश्वर्य देखने या सुननेमें नहीं आया।" फिर सोचने लगे—'मैं मार्ग भूला नहीं यह पूर्वकी ओर वही शिवालय है, वही वटका वृक्ष है। पश्चिमके ओर वे ही खेत हैं वह रामा भड़भूजा है। यह देखो मेरा पड़ोसी सोमदत्त है ये उसके बच्चे हैं' स्थान तो यह मेरा ही है, किन्तु मेरे चले जाने के पश्चात् मेरी पत्नी को किसी ने यहाँ से निकाल कर मेरी झोंपड़ीको तुड़वाकर महल बनवा लिया है। लोभका परिणाम यही होता है। जो आधीको छोड़कर पूरीलेने दौड़ता है, वह आधीको भी गँवा बैठता है। मेरी स्त्री न जाने कहाँ ठोकरें खाती होगी. उसे अब मैं कहाँ पाऊँगा। कौन मुझे उसका पता बताने आवेगा। यहाँ तो इतने पहरे वाले हैं, वे मुझे भीतर भी न घुसने देंगे किन्

निर्धन ब्राह्मण पर दया भी नहीं की। मेरा बचा ... । कई दिनसे उसे भोजन नहीं मिला था। उसकी क्या दशा होगी। मेरी स्त्री उसे कहाँ लिये लिये फिर रही होगी। हाय! विपत्ति जब आती है, एक साथ ही आती है। अब तक दरिद्रताका ही दुख था, अब हाथसे घर भी छिन गया क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामाजी चिंतामें खड़े ख यही सोचरहे थे, कि किसी ने उनके घरमें उनके आनेक सूचना देदी। सूचना पाते ही देवताओं के समान परम तेजस्व अत्यंत रूपवान् सहस्रानर नारी बड़े उत्साह के साथ गा बजाते उन्हें लेनेके लिये आगे आये और प्रणाम कर बोले—"महाराज पधारिये! महाराज! पधारिये।"

ब्राह्मणने सोचा—"ये सब मेरा इस प्रकार आदर सत्क क्यों कर रहे हैं। उन्होंने एकसे पूछा—"भाई! कहाँ चलें

उसने नम्रताके साथ कहा—"महाराज! अन्तःपुरमें स्वामिनी के समीप पधारें।"

सुदामाजीने सोचा—"कोई धर्ममें बुद्धि रखने वाली र होगी। ब्राह्मण समझकर कुछ सेवा सत्कार करना चाह होगी, इसके यहाँ कोई पर्व उत्सव होगा। अच्छा है चलें प्र पावेंगे। कुछ दान दक्षिणा मिलेगी तो कहीं पत्नीको ढूँढ़ उसे देदेंगे। जिससे वह यह तो न कह सके, कि रिक्त ह लौट आये।" यही सब सोच कर वे सबके साथ चल दिये।

जब सुदामाजीकी पत्नीने अपने पतिदेवके शुभागमनका सम्वाद सुना तो वह सज बज कर आरती सजाकर बहुत दासियों से घिरी हुई द्वार पर आयी। सुदामाजी ने इ सुन्दरी स्त्रीको देखकर समझा यह कोई रानी है। उन्होंने अ दृष्टि नीची करली। सुदामापत्नी पतिके पधारने की प्रसन्न

अत्यंत उत्सुकताके साथ अपने भवन से उसी प्रकार निकल रही थी, जिस प्रकार कमलवनसे साक्षात् लक्ष्मीजी नारायणके दर्शनों के लिये आई हों। अपने पतिके दर्शन करके पतिव्रताके नेत्रोंसे झर झर करके प्रेमाश्रु झरने लगे मारे हर्षके उसके नेत्र बंद होगये, इच्छा तो हुई अपने जीवन सर्वस्व हृदयधनका कस कर आलिङ्गन करें किन्तु सबके सम्मुख वह ऐसा कैसे कर सकती थी, कुलवती शीलवती पतिव्रता रमणियाँ सबके सम्मुख पतिका स्पर्श नहीं कर सकतीं अतः उसने भूमिमें सिर टेककर पतिके पाद पद्मोंमे प्रणाम किया। और मनसे ही ध्यानमें उनका गाढ़ालिङ्गन किया। फिर अवरुद्ध कण्ठसे अस्पष्ट वाणीमें उसने कहा—"प्राणनाथ !"

सुदामाजी चौंकपड़े, कि यह कैसी रानी है मुझसे यह क्या चाहती है। यह मुझे पतिकी भाँति सम्बोधित क्यों कर रही है। इसका कुछ दुष्ट विचार तो नहीं है" उनके मनोगत भावोंको समझ कर ब्राह्मणी बोली—"देव ! आप विस्मय क्यों कर रहे हैं। यह घर आपका ही है। मैं आपकी चरणदासी हूँ।"

अबतो सुदामाजी बोलीसे पहिचान गये। उन्होंने आँख उठाकर जो देखा तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। उनकी स्त्री के कण्ठमें सुवर्णकी मालायें पड़ी हैं। मणि मुक्ताओंके आभूषणोंसे वह सज रही है। सहस्रों दासियाँ उसकी सेवामें संलग्न हैं। वे सोचने लगे—"हैं, अरे, इसमें इतना परिवर्तन कैसे होगया। यह तो काली कलूटी सी थी, अब तो यह साक्षात् मूर्तिमती लक्ष्मी सी लगती है। वे समझ गये यह सब भगवान् ने कौतुक रचा है।"

तब तक स्त्री ने आग्रह पूर्वक कहा—"स्वामिन ! भीतर पधारिये। अपने भवन्की शोभा निहारिये। प्रभु प्रदत्त प्रसादको स्वीकारिये।"

यह सुनकर सुदामाजी अत्यंत प्रसन्न होकर पत्नीके साथ अपने समृद्धिशाली भवनके भीतर गये। जो इन्द्र भवनके सदृश
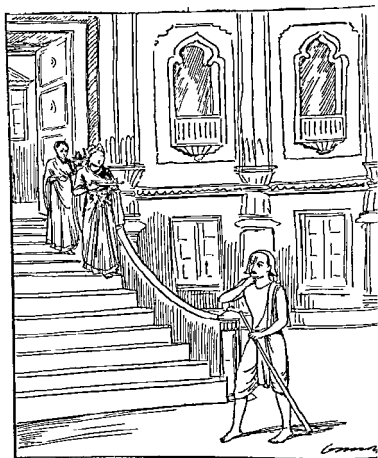
सुविस्तृत, सुन्दर तथा शोभायुक्त था। जिसमें सहस्रों मणिम खम्भे लगे हुए थे। सभी भवन कलयी किये हुए स्वच्छ तथ

निर्मल थे। उनमें सुखद सुन्दर सजी हुई शैयायें बिछी थीं, जिनके पाये हाथी दाँतके थे और पाटियाँ सुवर्णकी बनी हुई थीं। जिनपर दुग्ध फेनके समान अमल, विमल, सुन्दर स्वच्छ सुकोमल शुभ्र बिछौने बिछे हुए थे। स्थान स्थानपर पंखे रखे थे, जिनकी डंड़ियाँ सुवर्ण मण्डित थीं। भवनोंमें जो गलीचे बिछे थे, उनपर सुवर्णका काम होरहा था, भवनोंकी छतोंमें जो चाँदनियाँ टँगी थीं उनमें झिलमिल झिलमिल करते हुए सच्चे मोती हिल हिलकर मानों सुदामाजीका स्वागत कर रहे थे। स्थान स्थानपर मणिमय सिंहासन बने थे। उन दिव्य भवनोंकी भीतें स्फटिक मणियोंकी बनी हुई थीं। नीचे की भूमिमें इन्द्र-नीलमणियाँ जड़ी हुई थीं। उनमें घृत या तैलके दीपक नहीं थे। मणियोंके प्रकाशसे ही वे सब भवन जग मग जग मग कर रहे थे। जैसे ही सुन्दर स्वच्छ चमकीले वे भवन थे, उसके अनुकूल ही वैसी ही सुन्दरी रमणियाँ उनमें सेवा कर रही थीं मानों अनेक रूप रखकर लक्ष्मी ही अपने कर कमलसे उन भवनों को बुहार रही हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस सर्व सम्पत्ति युक्त भवनको देखकर तथा बिना प्रबल पुरुषार्थ किये हुये अपनी अतुलनीय सम्पत्तिको देख कर सुदामाजी मनही मन सोचने लगे—"देखो, मैं तो जन्मका दरिद्री था भाग्यहीन था। मुझे इतनी सम्पत्ति मिलना अति दुर्लभ है यह सब यदुनन्दन श्यामसुन्दरकी कृपा है। उन्होंने ही मुझे यह सम्पत्ति प्रदान की है। उन्होंने ही मुझ दरिद्र पर दया करके यह दुर्लभ दान दिया है।"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! एक बात हमारी समझमें नहीं आयी, कि भगवान् ने द्वारकामें तो सुदामाजीको कुछ नहीं दिया और यहाँ चुपकेसे इतनी सम्पत्ति देदी। देना था, तो वहाँ कुछ दे देते जिससे सुदामाजीको मार्गमें इतनी ऊहापोह न करनी पड़ती।"

सूतजी बोले—"महाराज ! द्वारकामें धन न देने के अनेकों कारण हैं। पहिला कारण तो यह है, कि किसी आत्म सम्मान वाले मनस्वी पुरुषको उसके मित्र सगे सम्बन्धी प्रत्यक्ष सहायता देते हैं तो उसे लज्जा लगती है। वह अपनेको एक प्रकारसे छोटा समझने लगता है, उसके आत्म सम्मानपर ठेस लगती है, इस लिये सज्जनपुरुष प्रत्यक्ष सहायता न देकर प्रकारान्तर से देते हैं चलते समय बच्चेको कुछ दे जाते हैं। लड़का लड़कीके विवाहके अवसरपर कोई आभूषण आदि दे देते हैं। बहूको मुख दिखाई दे देते हैं। सारांश यह है कि किसी न किसी प्रकार सहायता तो उसके घरमें पहुँच जाय, किन्तु उसे प्रत्यक्ष लेते समय लज्जाका अनुभव न करना पड़े। इसी लिये भगवान्ने द्वारकामें प्रत्यक्ष कुछ न देकर परोक्षरूपसे सम्पत्ति घर भिजवा दी।"

दूसरा कारण यह भी हो सकता है। प्रत्यक्ष दान देते समय गृहीता अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता है। सज्जन पुरुष दूसरों को आभारी देखकर लज्जित होते हैं। अतः प्रत्यक्ष देनेमें स्वयं भगवान्को भी लज्जा लगी। वे यह तो जानते ही थे धनकी इच्छासे सुदामाजी आये हैं। यदि मैं इन्हें यहाँ विपुल धन देता हूँ, तो कृतज्ञताके कारण इनका सिर नीचा हो जायगा। उस समय हमारी मैत्रीमें एक संकोच उत्पन्न हो जायगा। वे साधुता के कारण दीनता मिश्रित अपनी कृतज्ञता प्रकट करेंगे ही, मुझे बड़ी लज्जा लगेगी। फिर हमारा मित्र मित्रका सम्बन्ध न रहकर

दावा प्रति ग्रहीताका सम्बन्ध हो जायगा। जो मित्रताकी दृष्टिमें अत्यंत तुच्छ है, इस संकोच से प्रत्यक्ष नहीं दिया।

तीसरा कारण यह है, कि वस्तुओंमें प्रियता नहीं उनकी उत्कट प्रतीक्षामें प्रसन्नता है। एक करोड़पति है, उसके यहाँ लाखों रुपया नित्य आते जाते हैं, इसमें उसे कोई प्रसन्नता नहीं, क्योंकि वह तो नित्यका ही काम है। एक दूसरा है जो चाहता है मुझे दस रुपये मिल जायें, किन्तु मिलते नहीं एक दिन वह निराश होगया सहसा उसे सहस्र रुपये अकस्मात् मिल गये। उस समय उसे जो प्रसन्नता होती है वह अवर्णनीय है। सुदामाजीको पूर्ण आशा थी, इतने बड़े द्वारपर जारहा हूँ, वहाँ से रीता थोड़े ही लौटूँगा, कुछ न कुछ तो श्यामसुन्दर देंगे ही। किन्तु हुआ उसके प्रतिकूल भगवान्ने प्रत्यक्षमें कुछ भी न दिया। अब सब ओरसे आशा टूट गयी, जब इतने बड़े द्वारपर पहुँचकर भी मुझे कुछ नहीं मिला, रीते हाथों लौट आना पड़ा, तो मेरे भाग्यमें धन है ही नहीं, इसी प्रकार जीवन काटना है। सब ओरसे निराशा होजाने पर जो उन्हें सहसा इतनी बड़ी सम्पत्ति मिलगयी, उसमें उन्हें सुख द्वारकामें मिलनेकी अपेक्षा अधिक हुआ।

चौथा कारण यह है, कि गुप्तदानका बड़ा महात्म्य है। लोग लड्डूमें रखकर फलोंमें भर कर या किसी और प्रकारसे गुप्त दान करते हैं वही श्रेष्ठ दान है। केवल दाता ही समझे लेने वाला भी न समझे। श्रेष्ठ पुरुष इसी प्रकार दान देते हैं। किसान अपने घरमें सोता रहता है, इन्द्र रात्रिमें आकर उसके खेतको जलसे भर जाते हैं। बोये हुए खेतको सींच जाते हैं। इसी प्रकार श्रेष्ठोंके श्रेष्ठ भगवान् ने सुदामाजीके हाथमें देनेमें संकोच किया। वे द्वारका ही में थे, तभी उनके घरको ऋद्धि सिद्धिमय बना दिया।

पाँचवा कारण यह भी हो सकता है, कि सुदामाजीकी इच्छा तो धन माँगनेकी थी नहीं, उनकी पत्नी धन चाहती थी। भगवान तो वाँछाकल्पतरु हैं, उनका भक्त उन्हे जैसे भजता है वे उसे वैसे ही फल देते हैं। सुदामाजी निष्किञ्चन बने रहना चाहते थे, इस लिये उन्होंने न भगवान्से धनकी याचना की और न भगवान ने ही उन्हें धन दिया। स्त्री धन चाहती थी इस लिये उसे धन दे दिया। पति पत्नी एक ही है अतः वह धन सबके उपयोगमें आया।"

इस प्रकार प्रत्यक्ष धन न देने के अनेकों कारण हैं। एक यह भी कारण है, कि भगवान्को लज्जा लगी, कि इस तनिकसे धनको सुदामाजीको क्या दूँ। अपने भक्तको तो मैं अखिल ब्रह्माण्डोंका राज्य दे दूँ, या अपने आपको भी दे डालूँ तो भी न्यून है। भगवान् तो समझते थे मैंने कुछ भी नहीं दिया इधर सुदामाजी इस इतने अधिक वैभवको देखकर आश्चर्य चकित रह गये। वे सोचने लगे—"देखो, भगवान् कैसे ब्रह्मण्य देव हैं मैंने एक मुट्ठी चिउरा दिये, उनको ही उन्होंने कितने प्रेमसे स्वीकार किया तुरन्त उन्हें खागये। कितनी प्रशंसा कर रहे थे, चिउरोंके स्वाद कहते कहते अघाते नहीं थे। इसके विपरीत अपनी इतनी दी हुई सम्पत्तिको भी वे अत्यल्प ही अनुभव करते हैं।

मेरी तो उन सर्वात्मा सर्वस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभुके पादपद्मोंमें यही प्रार्थना है, कि मुझे जन्म जन्मातरोंमें उन्हीं पादपद्मोंकी प्रीति प्राप्त हो। मेरे मनमें उन्हींके प्रति सौहार्द भाव हो, इसी प्रकार वे मुझे अपना तुच्छाति तुच्छ दास, सखा, मित्र और बन्धु समझते रहे। इसी प्रकार मैं जन्म जन्मान्तरोंमें दरिद्र होऊँ, किन्तु होऊँ श्रीकृष्णभक्त। जिससे वे मेरे ऊपर इसी प्रकार कृपाकी दृष्टि करते रहें। मेरा उन्हीं अच्युत के चरणोंमें अनुराग हो, उन्हींके भक्तोंका संग प्राप्त हो।

लगाऊँगा और प्रभुप्रसाद पाकर यह प्रभु सेवोपयोगी शरीरका उनकी सेवाके निमित्त ही पालन पोषण करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! ऐसा निश्चय करके सुदामाजी अनासक्त भावसे त्याग पूर्वक, प्रभुप्रसादकी भावनासे अपनी पत्नी के सहित उन विषयोंका उपभोग करने लगे। उन्होंने कभी शरीर को पुष्ट करने की भावना से भोजन नहीं किया। प्रभु प्रसाद समझ कर ही उसे पाया। इस प्रकार भगवानने इन दरिद्र निर्धन ब्राह्मणके ऊपर कृपा करके अपनी ब्रह्मण्यता सबके सम्मुख प्रदर्शित की। यद्यपि भगवान् अजित कहलाते हैं उन्हें कोई अपने पुरुषार्थ से जीतना चाहे, तो नहीं जीत सकता। हाँ, वे अपने भक्तोंके सम्मुख पराजित होजाते हैं। भक्त उन्हें अपने नयनोंकी पुतलियोंमें रखकर बंद कर लेते हैं। हृदयमें बिठाकर उन्हें रोक लेते हैं। वे रुक जाते हैं, भक्तोंके अधीन बन जाते हैं। इसी लिये उन्हें भक्तवश्य कहा है। सुदामाजी निरन्तर उन्हीं भक्त-वश्य भगवान्का तीव्रताके साथ ध्यान किया करते थे। इसी लिये अविद्यारूपिणी ग्रन्थिका छेदन करके वे अन्तमें भगवान्के परमधामको प्राप्त हुए।

जो पुरुष विशुद्ध भावसे इस परम पुण्यप्रद सुदामा चरित रूप मधुमय उपाख्यान को कर्ण कुहरों द्वारा पान करेंगे अथवा वाणी द्वारा कहकर दूसरोंको तृप्त करेंगे उन्हें तत्काल भगवान्का प्रेम प्राप्त होगा और उस प्रेमके वेग से ही वे कर्मके बन्धनोंसे विमुक्त बन जायँगे। इस प्रकार बाल्यकाल के बिछुड़े अपने सुदामा सखाको एक बार मिलने पर ही निहाल कर दिया।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! बाल्यकालके सखा सुदामाको दर्शन और ऐश्वर्य देकर तो भगवान ने निहालकर दिया, किन्तु चिरकालके बिछुड़े उन व्रजवासी गोपी ग्वालोंको भी भगवान्ने फिर कभी दर्शन दिया ?

मूतजी बोले—'महाराज! गोप गोपियों ने तो श्रीकृष्णको वसुदेवजीसे मोल ले लिया है छोराके बदलेमें छोरी दी है। छोरीकोतो कंसने मार दिया। जब तक गिरवी रखी हुई वस्तु का मूल्य नहीं चुकाया जाता तब तक रखने वाला उसे ले नहीं सक्ता। इस लिये भगवान्को तो व्रजवासियोंने मोल ले लिया है। भगवान् भी ऐसे हिल गये हैं, कि वे वृन्दावनकी सीमाके बाहर एक पैर भी नहीं रखते। अक्रूरजी लेने आये, तो सकोच वश अक्रूरघाट तक तो चले गये, किन्तु दो रूप रखकर एक रूपसे तो यमुनाजीमें छिप कर वृन्दावन चले आये और एक रूपसे मथुरा और द्वारकामें प्रकटलीला करने लगे। अब वृन्दावन-वासी श्रीकृष्णको डर लग गया, कि कहीं अक्रूरजी फिर रथ लेकर न आजायँ, फिर मुझे वृन्दावनसे न ले जायँ, अतः भगवान् विरहका रूप रख कर तो प्रकट हुए और अप्रकट भावसे गोपियोंके साथ निरन्तर क्रीड़ा करते रहे और अब भी सेवा कुंजमें निरन्तर करते हैं, किसी किसी भाग्यशाली को अब भी प्रत्यक्ष उनके दर्शन होते हैं। उनके परम भक्त उद्धव-जी भी गुप्त रूपसे गुल्मलता रूपमें व्रजमें वास करते हैं। एक रूप से वे बदरीवनमें तप करते हैं। अतः प्रकटरूपमें तो भगवान् फिर व्रजमें नहीं आये। हाँ एक बार कुरुक्षेत्रमें सब गोपी गोपों से उनकी भेंट अवश्य हुई।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! गोपी गोप कुरुक्षेत्र क्यों गये। भगवान् वहाँ क्या युद्धमें अर्जुनका रथ हाँकने आये थे। युद्धके समय व्रजवासियों की वहाँ जानेकी क्या आवश्यकता हुई?'

सूतजी बोले—'नहीं महाराज! यह भेंट युद्धके समय नहीं हुई। महाभारत युद्धके बहुत पहिले भगवान्का व्रजवासियों से सम्मेलन हुआ सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें स्नान करनेका बड़ा महात्म्य होता है। इधरसे गोपी गोप ग्रहण स्नान करने व्रजसे

आये। उधरसे द्वारकापुरीसे भगवान् सपरिवार स्नान करने आये। अकस्मात् भेंट होगयी। अब मैं उसी सुखद सम्मिलनका वर्णन करूँगा। आप सब सावधान होकर इस सुखद सरस शुभ सम्वादको श्रवण करें।"

छप्पय

प्रभु प्रसाद सब समुझि करें विषयनिको सेवन।
मन महँ धारें कृष्ण करें तिनि नित प्रति चिन्तन॥
जग महँ सब सुख भोगि अन्त हरि लोक पधारे।
भये सुदामा सखा श्यामके अतिशय प्यारे॥
सुने सुदामा चरित जे, ते न परैं भवकूप पुनि।
गोपनि संग हरि मिलन ज्यों, भयो कहूँ अब सुनहु मुनि।

कुरुक्षेत्रमें व्रजवासियों की भगवान्से भेंट

(११७१)

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।
सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥
तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।
स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥ *

(श्रीभा० १० स्क० ८२ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सूर्य ग्रहन इक बार परयो सुनि सब नर नारी ।
गये न्हान कुरुक्षेत्र सकल यादव बनवारी ॥
इततैं गोपी गोप परब पै मिलि तहँ आये ।
भेंट परस्पर भई सकल मिलि परम सिहाये ॥
उभय ओर आनन्द अति, प्रमुदित यादव गोपगन ।
खिल्यो कमल मुख नयन जल, पुलकित तनु गद्गद वचन ।

तीर्थ और पर्व प्रेमियोंके साथ–सगे सम्बन्धियों के साथ मिल कर किये जाते हैं, तभी उनमें आनन्द आता है । पर्वोंके अवसर

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! एक बार की बात है, जब श्रीरामकृष्ण द्वारकापुरीमें ही निवास करते थे, उसी समय कल्पक्षयमें जैसा होता है, वैसा ही खग्रास सूर्यग्रहण का पर्व पड़ा । लोगोंने पहलेसे प्रथम ही जान लिया था, अतः ग्रहणके पूर्व ही देश देशान्तरों से बहुतसे लोग पुण्य कर्म करने की इच्छासे स्यमन्तपञ्चक क्षेत्र (कुरुक्षेत्र तीर्थ) के लिये गये ।"

पर गंगादि तीर्थोंमें जाते हैं, तो पुण्य तो प्राप्त होता ही है साथ ही अपने इष्ट मित्र, सगे सम्बन्धी तथा अनेक सुपरिचित व्यक्ति मिल जाते हैं। अपने प्रेमियों से भेंट हो जाना संसारमें यह एक सबसे बड़ा लाभ है। यों केवल मिलने के उद्देश्यसे सहसा जाया नहीं जाता। उसमें बहुत सी आगे पीछे की बातें सोचनी पड़ती हैं। तीर्थ यात्रा के लिये सभी स्वतन्त्र हैं। सभी बड़े उत्साह से तीर्थोंमें विशेष पर्वोंके अवसर पर जाते हैं। वहाँ एक पन्थ दो काज हो जाते हैं। अपने स्नेही भी मिल जाते हैं और तीर्थ व्रत भी हो जाते हैं। तीर्थोंमें संत महात्माओंका दर्शन हो जाना, अत्यंत प्रेमियोंका मिल जाना तीर्थका प्रत्यक्ष फल मिलने के समान है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तक महाराज युधिष्ठिर का

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है तुम भी चली चलना।"

अब क्या था, यह समाचार बातकी बातमें सब महलोंमें फैल गया। सभी भगवान् के साथ चलनेका आग्रह करने लगीं। भगवान्ने कहा—"अच्छी बात है, सब चलो! अपने पिताजी वसुदेवजीसे भी कहा, माताओं से भी कहा, बलदेवजी को भी ले चलना आवश्यक था। अब तो जो भी सुने वही ग्रहण स्नान के पुण्य को लूटने को उत्सुकता प्रकट करने लगा। अक्रूरजी, उग्रसेनजी, गद, प्रद्युम्न, साम्ब तथा अन्यान्य यादव गण भगवान् की अनुमतिसे ग्रहण स्नान को चलने को उद्यत हो गये। अब सबके सब तैयारियाँ करने लगे। भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! सबके सब चल दोगे, तो फिर द्वारका की रक्षा कौन करेगा। कुछ लोगों को नगरी की रक्षाके लिये भी रहना चाहिये।"

यह सुनकर सभी परस्परमें—"तू रह, तू रह कह कर एक दूसरेसे रहने का हठ करने लगे। तब भगवान् ने कहा—'देखो, सेनापति कृतवर्माजी का रहना तो परमावश्यक है। ये ही रक्षाधिकारी हैं। इनकी सहायता के लिये सुचन्द्र, शुक, सारण और अनिरुद्ध रहें। इतने वीर यदि रहेंगे आवेंगे तो द्वारका की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

अब कोई क्या कह सकता था। जब भगवान् की आज्ञा ही हो गयी तब उसमें ननुनचके लिये स्थान ही नहीं। जिनके लिये पुरीमें रहने की आज्ञा हुई वे पुरीमें रह गये, शेष सभी बड़े ठाठ बाटसे सज बज कर समूह के साथ ग्रहण स्नान के लिये चले। मार्गमें ठहरते हुए वे सब यादव गण कुछही कालमें उस परम पवित्र कुरुक्षेत्रमें पहुँच गये, जिसमें महा शस्त्रधारी परशुरामजी ने इक्कीस बार क्षत्रियों को मारकर राजाओं के रक्तसे बहुत बड़े बड़े नौ कुंड भर दिये थे। यद्यपि वे ईश्वर थे, पाप पुण्यसे निर्मुक्त थे। उन्होंने क्षत्रियों का जो वध किया था, वह भू का भार उतारने के

लिये किया था। फिर भी उनके पितरों ने उनसे हत्याओं का प्रायश्चित करने को कहा। अतः पितरों की आज्ञा शिरोधार्य करके पापसे निर्लिप्त होते हुए भी केवल लोक शिक्षार्थ अन्य साधारणपुरुषों की भाँति बहुतसे प्रायश्चित्त यज्ञ किये, जिससे वे निष्पाप बन जायँ। इस क्षेत्रको परम पवित्र समझ कर ही परशुरामजी ने यहाँ यज्ञ किये थे। इस क्षेत्र के अन्तर्गत ही स्यमन्तपञ्चक नामक तीर्थ है। जिसमें सूर्य ग्रहण के समय स्नान करनेका महान् पुण्य बताया गया है। अब भी जब सूर्य ग्रहण लगता है, तो कुरुक्षेत्रमें लाखों नर नारियों की भीड़ होती है।

उस समय ग्रहणका समाचार सुनकर सभी देशोंसे लोग स्नान करने आये। बहुतसे राजा भी अपने परिवार मंत्री और पुरोहितों को संग लेकर ग्रहण स्नानके निमित्त आये। सभी यादव गण कंठों में सुवर्ण की दिव्य मालाओं को पहिने हुए थे। मणिमय महा मूल्यवान् हारोंसे उनकी अपूर्व शोभा हो रही थी। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषणों को पहिने कवचों को धारण किये अपने बड़े बड़े विमानों के सदृश रथोंमें अपनी सजी सजायी स्त्रियों के संग देवताओं के समान शोभित होते थे। उनके सुवर्ण मंडित रथ सूर्यके प्रकाशमें देव विमानों के सदृश प्रतीत होते थे। उनरथोंमें जुते घोड़े इतने वेग के साथ भूमि पर दौड़ रहे थे मानों समुद्र के ऊपर चचल तरंगे उठ रही हों। कुछ ही कालमें वे सबके सब कुरुक्षेत्र पहुँच गये। तीर्थसे हट कर कुछ दूर पर सघन वृक्षों की छायामें उन सबने अपने डेरे डाले। उन सबके साथ यथेष्ट सेवक सैनिक थे, अतः बात की बातमें वहाँ सब प्रबन्ध हो गया। देखते देखते नगर सा बस गया। ठहरने की व्यवस्था हो जाने पर उन सब यादवों ने जाकर तीर्थमें स्नान किया। तीर्थ यात्रा का नियम है, जिस दिन तीर्थमें पहुँचे उस दिन उपवास करे। इसलिये सबने प्रथम दिन उपवास किया। पर्वके दिन बड़ी भीड़ थी, कौन आया

कौन गया, किसी का कुछ पता ही नहीं चलता था। यादव सभी बड़े धनी थे। सभीने परशुरामजी के कुण्डोंमें शास्त्रीय विधिसे स्नान किया ब्राह्मणोंके लिये पूड़ी, कचौड़ी, लड्डू, खीर, मोहनभोग तथा अन्यान्य उत्तमसे उत्तम भोजन श्रद्धापूर्वक कराये। उन्हें ऊनी रेशमी वस्त्र, सुगन्धित पुष्पोंकी मालायें सुवर्णमय हारों से विभूषित सुन्दर सूधी दुधार गौएँ दान दीं। सब कर्म करने के अनन्तर सभीने हाथ जोड़कर यही प्रार्थनाकी "भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें हमारी भक्ति हो।"

ब्राह्मणोंको भोजन कराके तथा उन्हें यथेष्ट दान दक्षिणा देकर सभीने भगवान् की आज्ञासे भोजन किया और फिर सघन वृक्षोंकी शीतल छायामें विश्राम करने लगे। स्नान, दान, भोजन तथा विश्राम करने के अनन्तर अब सबको यह सूझी कि देखें यहाँ कौन कौन आये हैं। उन्होंने देखा ग्रहण स्नान करने चारों दिशाओंसे सहस्रों राजा आये हुए हैं। क्षेत्रके चारों ओर योजनों लम्बे राजाओंके डेरा पड़े हुए हैं। मत्स्य देशके राजा, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, केकय, मद्र, कुन्ति, आनर्त और कोल आदि अनेकों देशोंके राजा गए वहाँ ठहरे हुए हैं। बहुतसे राजा यादवोंके सम्बन्धी थे, बहुतसे अपने पक्षके थे और बहुतसे विपक्षी भी थे।

कौरव और पांडव भी ग्रहण स्नानके लिये आये हुये थे। वे कई दिनों पहिलेसे ही आकर पड़े हुए थे। कुरुक्षेत्र उनके राज्यमें ही था, अतः उन्हें मेलेका प्रबन्ध करना था। कौरवोंके साथ उनकी स्त्रियाँ भी थीं। महारानी कुन्ती भी अपने पुत्रोंके सहित पधारीं थीं। उन्होंने जब अपने भाई, भावज, भतीजे और माता, पिता तथा अन्यान्य सगे सम्बन्धियों का आगमन सुना, तो वे तुरन्त पालकीमें बैठकर यादवोंके डेरों पर आईं। जब भगवान्ने अपनी बुआको देखा, तो उनके पैर छुए। कुन्तीजी ने भी भगवान्

का सिर सूँघकर उनका आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिये। फिर वे अपने भाई वसुदेवजी से तथा अपनी भाभियोंसे मिलीं। सभीने कुन्तीजी का बड़ा सम्मान किया। चिरकालमें अपने भाई वसुदेवजी को देखकर कुन्तीजी का हृदय भर आया, वे फूट फूट कर रोने लगीं। वसुदेवजी ने अत्यंत प्यारसे कहा—"बहिन! रोते नहीं हैं।"

रोते रोते कुन्तीजी बोलीं—"भैया! मैं अपने भाग्य को रोती हूँ, कि मैं कितनी अभागिनी निकली। जब मैं छोटी थी, तभी मुझे माता पिताको छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाना पड़ा। मुझे जन्म दूसरे माता पिताने दिया और पालन दूसरोंने किया। विवाह होकर जहाँ गयी, वहाँ भी राजसुख न भोग सकी। घोर वनोंमें दुर्गम पर्वतोंमें हमें मुनियों का सा जीवन बिताना पड़ा। वहाँ मेरा भाग्य फूटा। मैं विधवा हुई। वे इन छोटे छोटे बच्चोंको छोड़ कर परलोक वासी हुए। फिर तो मानों मेरे ऊपर विपत्तियोंका पहाड़ ही टूट पड़ा। आपत्ति विपत्ति थोड़ी बहुत सभीपर पड़ती हैं, किन्तु आपत्तियोंमें सगे सम्बन्धी आकर सहानुभूति प्रकट करते, समवेदना दिखाते हैं, तो वे आपत्तियाँ कम हो जाती हैं, किन्तु मैं इससे भी वञ्चित रही। आपने मेरी विपत्ति के समय भी सुधि नहीं ली। इसमें मैं आप सबको दोष नहीं देती। आप सब तो साधु स्वभावके हैं। मेरा ही भाग्य खोटा था, जिससे इतने सज्जन

अपनी बहिन कुन्ती की ऐसी मर्मस्पर्शी करुणापूर्ण बातोंको सुनकर वसुदेवजी बोले—'बहिन ! तुम ऐसी बातें मत कहो ! संसारमें कौन किसे दुःख दे सकता है कौन किसीका दुःख बाँट सकता है। हम सबके सब विधाताके खिलौने हैं, वह जिसे जहाँ उठा कर रख देता है, वह वहाँ रखा रहता है, जिसके साथ खेलना चाहता है खेलता है। हम सब अवश हैं, परवश होकर यन्त्र की तरह कार्य कर रहे हैं। यन्त्री जैसा चाहता है हमारा उपयोग करता है। बहिन! कालरूप भगवानके ही वशमें होकर जीव नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। सची बात यह है कि हम अब तक ऐसी स्थितिमें रहे कि इच्छा रहते हुए भी हम तुम्हारे प्रति क्रियात्मक सहानुभूति न प्रकट कर सके।"

कुन्तीजी ने कहा—"हाँ, भैया ! भाग्य का ही तो सब खेल है. नहीं तो मेरे सगे भाई और सर्व समर्थ होकर तुम इस प्रकार मुझे भूल जाओ ! इसमें भाग्यके अतिरिक्त दोष भी किसे दिया जाय।"

वसुदेवजी ने कहा—"अच्छा, तू ही बता हम कब कब ऐसी स्थितिमें रहे, कि तेरे प्रति सहानुभूति प्रकट करते। जबसे तेरी छोटी भौजाई का विवाह हुआ है, तभीसे कंस हमें क्लेश देने लगा। हमारे जाति बन्धु इधर उधर अन्य देशोंमें छिप छिपा कर दिन काटने लगे। हमें निरन्तर कृष्णकी रक्षाकी चिन्ता बनी रहती थी। यद्यपि हम इसे गोकुलमें अपने बन्धु नंदरायके यहाँ छिपा आये थे, किन्तु तो भी खुटका तो बना ही रहता था। जैसे तैसे वह दुष्ट कृष्णके द्वारा मारा गया। फिर उसका ससुर जरासन्ध हमारे पीछे पड़ गया। सत्रह बार अगणित सेना लेकर उसने हमारे ऊपर चढ़ाई की अठारहवीं बार तो हम अपने पैतृक राज्य का छोड़ कर यहाँ द्वारकामें ही आगये। द्वारका आये भी हमें बहुत दिन नहीं हुए। जैसे तैसे घर बना कर सन्तोष की साँस ली

है, सो यहाँ भगवान् ने तुमसे भेंट करा ही दी। अब तू जो कहेगी हम करनेको प्रस्तुत हैं । बीबी ! यह सब भाग्यकी विडम्बना है । कौन किसकी सहायता कर सकता है । जिसे स्वयं सर्पने काट लिया है, वह दूसरोंकी सर्पसे कैसे रक्षा कर सकता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भाई बहिनमें अपने सुख दुखकी बातें हो ही रहीं थीं कि सेवकोंने समाचार दिया—"बाहर बहुतसे राजागण महाराजसे मिलने आये हैं।" यह सुनते ही वसुदेवजी तुरन्त उठकर बाहर आये बाहर उन्होंने देखा बहुतसे राजा राजपुत्र सपरिवार महाराज उग्रसेन से तथा समस्त यादवोंसे मिलने आये हैं । जिसमें भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, गान्धारी और दुर्योधनादि अपने शतपुत्रोंके सहित अंधे महाराज धृतराष्ट्र, अपने बालबच्चे और स्त्रियोंके सहित पाँचों पांडव, सृञ्जय, परमभक्त विदुरजी, कृपाचार्य, महाराज कुन्तीभोज, विराट, रुक्मिणीजीके पिता भीष्मकजी, वसुदेवजीके बहनोई महाराज नग्नजित्, महाराज-पुरुजित, द्रौपदीके पिता महाराज द्रुपद, नकुल सहदेवके मामा महाराज शल्य, राजा धृष्टकेतु, पांडु और धृतराष्ट्रके मामा काशिराज, दमघोप, विशालाक्ष, मिथिलादेशके राजा, मद्रदेशके राजा, केकयदेशके राजा, युधामन्यु, सुशर्मा तथा पुत्रोंके सहित वाह्लिक ये मुख्य थे। अन्य भी बहुतसे राजा भगवान् वासुदेव और बलरामजीके दर्शनोंके लिये आये हुए थे । भगवान्के मेलेमें पधारनेसे चारों ओर हल्ला मच गया था। लक्षों नर नारी नित्य दर्शनोंको आते थे । प्रायः सभी राजाओंके साथ उनकी रानियाँ थीं । सब भगवान् लक्ष्मीनिवासके दर्शन करके परम विस्मित हुए । स्त्रियाँ तो भीतर स्त्रियोंमें चली गयीं। पुरुषोंका बलरामजी सहित भगवान् वासुदेवने

हार्दिक स्वागत किया । उन सबको उनकी योग्यताके अनुसार आसन दिये और मधुर वचनोंसे तथा पूजा की सामग्रियोंसे उनका स्वागत सत्कार किया भगवान् अच्युतका देवदुर्लभ दर्शन पाकर वे सबके सब परम सन्तुष्ट हुए । वे अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए तथा यादवोंके सौभाग्यकी सराहना करते हुए महाराज उग्रसेनसे कहने लगे—"हे यादवेन्द्र ! वैसे संसारमें नित्य ही असंख्यों जीव जन्म लेते रहते हैं, किन्तु वास्तवमें कहा जाय तो आप लोगों का ही जन्म लेना सार्थक है। मानवजन्मका फल तो आपने ही पाया है।"

उग्रसेनजीने कहा—"राजाओ ! हम आपके सम्मुख क्या हैं। जैसे तैसे समुद्रके बीचमें रहकर दिन काट रहे हैं।"

राजाओंने कहा—"महाराज ! सभी दिन काट रहे हैं। अंतर इतना ही है कि हम लोग विषयोंके कीड़े बने दिन काट रहे हैं। जैसे पीबका कीड़ा पीबमें ही बिलबिलाता रहता है, वैसे ही हम इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसे हुए समयको व्यर्थ गँवा रहे हैं । आप लोगोंके भाग्यके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। जिन सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दरका एक बार भी दर्शन बड़े बड़े योगियोंके लिये दुर्लभ है, उन्हीं अच्युत अखिलेश भगवान् वासुदेवका आप लोग निरन्तर दर्शन करते हैं। उन्हें अपने समीप ही सर्वदा निहारते रहते हैं। भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन स्पर्श और सहवास के सम्बन्धमें तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वेदोंमें जिनकी वर्णन की हुई कीर्तिका गान करके मनुष्य इस भवसागरसे पार हो जाते हैं। जिनके चरणों से निकली भगवती, सुरसरिमें स्नान करके जीव पापनिर्मुक्त हो जाते हैं, जिनके शास्त्ररूप वचन इस सम्पूर्ण जगत्‌को पूर्णतया पवित्र बनानेमें समर्थ हैं। उनके दर्शन आप नित्य करते हैं तो फिर आपसे बढ़ कर महाभाग्यशाली दूसरा कैसे हो

सकता है। ब्रह्मादिक देव भी आपके भाग्यकी प्रशंसा नहीं कर सकते। देखिये, कालक्रमसे शक्तिहीन भाग्यहीन हुई भूमि भी जिनके चरणकमलोंके स्पर्शसे उर्वरा और सौभाग्यशालिनी बन जाती है। केवल भगवान्‌की चरणधूलि पड़ने ही से जिसमें सब प्रकारकी शक्ति आ जाती है सब पदार्थोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ हो जाती है। उस चरणधूलि को आप नित्य प्राप्त करते हैं। भगवान्‌के नित्य दर्शन करते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनके साथ साथ चलते फिरते हैं उनसे वार्तालाप करते हैं, उनके साथ सोते हैं, उनके साथ एक आसन पर बैठते हैं। साथ साथ बैठ कर भोजन करते हैं। कहाँ तक गिनावें सभी क्रियायें आप कृपासागर कृष्णके साथ करते हैं, उनके साथ आपका वैवाहिक दैहिक सम्बन्ध है। इस लिये आप तो परमहंस मुनियोंसे भी बढ़ कर हैं। आप यद्यपि गृहस्थाश्रममें अवस्थित हैं। संसार बन्धनके कारणभूत गृहमें अवस्थित हैं, फिर भी आपको क्या चिन्ता। आपके घरमें तो स्वर्ग और अपवर्ग के दाता दयासागर श्रीमन्नारायण अवस्थित हैं। अतः आपसे बढ़ कर संसारमें भाग्यशाली कौन होगा।"

उग्रसेनजीने कहा—"यह सब आप लोगोंका आशीर्वाद है। श्रीकृष्णचन्द्रके पीछे ही तो हम सब को आपके दर्शन हो गये। नहीं तो हमें राजाओंके साथ बैठनेका अधिकार ही क्या था। श्रीकृष्ण सर्व समर्थ हैं जो चाहें सो कर सकते हैं। जिसे जो चाहें बना सकते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजालोग बातें कर रहे थे, कुछ तो उग्रसेनकी अनुमति लेकर भगवान्‌के पादपद्मोंमें प्रणाम करके चले गये, कुछ वहीं यादवोंके साथ ठहर गये।"

ग्रहणस्नानकी इच्छासे ब्रजराज नन्दजी भी अपने समस्त ग्वालवाल तथा गोपियोंके सहित कुरुक्षेत्रमें आये थे। वे स्नानके ही दिन पहुँचे थे अतः शीघ्रतासे छकड़ोंको खड़ा करके स्नान करने गये। जब सब गोपी गोप स्नान कर चुके तो यह प्रश्न उठा कि डेरा कहाँ डाला जाय। उसी समय किसीसे सुना द्वारका से यादव भी आये हैं। वसुदेवजी, श्रीकृष्णचन्द्र, बलराम सभी आये हैं। इस समाचार को सुनकर यशोदाजी तो प्रेममें विह्वल हो गयीं। वे नन्दजीसे बोलीं—"ब्रजराज! वहीं चलो मैं अपने कनुआ बलुआको देख भी लूँगी। जितने दिन यहाँ रहना है, उतने दिन उनके ही साथ रहेंगे।" इस बातका सभीने हृदयसे समर्थन किया। नन्दजी भी यही चाहते थे, अतः उन्होंने छकड़े हाँक दिये। लोगोंसे यादवों के डेराओं का पता पूछते पूछते वहाँ पहुँचे। उनके साथ सहस्रों छकड़े थे, उनमें जीवनोपयोगी सभी सामग्रियाँ लदीं हुईं थीं। दूरसे ही उनके छकडों के पंक्तियों को देखकर समस्त यादव अपने अपने डेरों से निकल आये। गोपी गोपों को देखकर वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे मृतक देहमें प्राण आगये हों। सभी बहुत दिनों से इच्छा कर रहे थे, कि कभी ब्रज-वासी गोपों से भेंट करने चलें। आज सहसा अपने आप गोपोंको देख कर उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा दौड़कर वसुदेवजी नंदजी से लिपट गये। दोनों एक दूसरे को कस कर हृदय से चिपटाये हुए थे उस समय वसु-देवजी के नेत्रों के सम्मुख वह दृश्य प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा, जब वे कसके द्वारा दिये हुए क्लेशों के कारण अत्यंत ही क्लेशित बने हुए थे। जब उन्हें पुत्रकी रक्षाका कोई अन्य उपाय न सूझा तो वे आधीरातमें उसे लेकर नंदजी के गोकुलमें गये। इन सब घट-नाओं के स्मरण से वसुदेवजी का हृदय द्रवित हो रहा था और वही हृदय जल बन कर नयनों से निकल रहा था।

भगवान् राम और कृष्ण कहीं बाहर घूमने गये थे। जब उन्होंने नन्दजीके आगमनका समाचार सुना, तो बच्चोंकी भाँति

दौड़ते हुए छलांग मारते हुए वहाँ आगये और आते ही अपने माता पिता नन्द और यशोदाजीके चरणोंमें लिपट गये और फूट फूट कर

रोने लगे। अपने बच्चोंको इस प्रकार रोते देखकर नन्द यशोदाका भी हृदय भर आया। वे गोदीमें दोनोंको बिठाकर अपने हाथोंसे उनके आँसू पोंछ रहे थे और अपने शीतल अश्रुओंसे उनके शिरोंको भिगो रहे थे। वह दृश्य बड़ा ही करुणा जनक था। जितने भी दर्शक वहाँ खड़े थे, सबके सब रोने लगे। सबकी आँखें भीगी हुई थीं। भगवान् कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कण्ठ रुक जानेसे कुछ कह न सके। नन्द और यशोदा अपने पुत्रोंको गोदीमें बिठाकर हृदय से चिपकाये हुए थे और ये दोनों भी अबोध भोले भाले शिशुओं के समान उनके हृदयसे लिपटे हुए थे। दोनों ही ओरसे जब प्रेम का आवेग कम हुआ विरहजन्य दुःख अश्रु बनकर निकल गया तब नन्दजी तो अपने गोपोंके साथ पुरुषोंमें चले गये और यशोदा जी गोपियोंको लिये हुए अन्तःपुरमें रानियोंके पास चली गयीं। अब जिस प्रकार गोपियोंकी और यादवोंकी पत्नियोंकी भेंट होगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

राम कृष्णने दौरि नन्द यशुमति पग पकरे।
शिशु सम गोद बिठाइ पुत्र कसिके हिय जकरे॥
उभय नयन जलधार बहे करना घबरानी।
भये कंठ अवरुद्ध न निकसे मुखतें बानी॥
मातु पिताकी गोदमहँ, रोवत शिशु सम श्याम बल।
पट भिगवत सिसकत लिपटि, पुनि पुनि पोंछत नयन जल॥

—क्ष—

यशोदाजीकी देवकी तथा रोहिणी आदिसें भेंट

(११७२)

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥
का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८२ अ० ३७,३८ श्लो०)

छप्पय

शान्त भयो आवेग यशोदा भीतर आई ।
दौरि देवकी और रोहिनी हिये लगाई ॥
करि करि पिछली यादि अधिक आभार जतावें ।
'ये तुमरी सुत बधू' सबनिके नाम बतावें ॥
राम श्यामकी बहुनि कूँ, लखि प्रमुदित यशुमति भई ।
नाती बेटा होहिं बहु, मातु सबनि आशिष दई ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यशोदाजीसे रोहिणीजी और देवकीजी हृदयसे हृदय सटाकर मिलीं और उनके पूर्वकृत मैत्री सम्बन्धी उपकारोंको स्मरण कर करके गद्‌गद कण्ठसे कहने लगीं—"हे व्रजेश्वरि ! आपने जैसी हमारे साथ कभी भी न छूटने वाली मैत्री निभाई उसे भला कौनसी स्त्री भूल सकती है । इन्द्रपद पाकर भी इस उपकारका प्रत्युपकार नहीं किया जा सकता ।"

स्त्रियोंमें सौहार्द्र अधिक होता है, और उनका हृदय भी अधिक कोमल होता है, अतः वे जब परस्परमें बहुत दिनोंमें मिलती हैं, तो बहुत देर तक एक दूसरीको हृदयसे लगाये रहती हैं और रोती रहती हैं। जब कोई तीसरी आकर उन्हें समुझा कर छुड़ाती है तब फिर मिल कर एक दूसरीसे पृथक होती हैं। फिर तुरंत आँसू पोंछकर इधर उधरकी बातें भी करने लगती हैं। दो बहिनों तथा सखी सहेलियोंका चिरकालके अनन्तर जो मिलन होता है, वह एक परम दर्शनीय दृश्य होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी तो बाहर ही रह गये, यशोदा जी गोपियोंके साथ भीतर स्त्रियोंमें चली गयीं। जब देवकीजी तथा रोहिणीजीने यशोदाजीके आगमनका समाचार सुना तो वे दौड़कर आगे आयीं। देवकीजीने यशोदा मैयाको अभीतक देखा नहीं था। रोहिणीजी तो वहाँ रह ही आयी थी, अतः प्रथम रोहिणीने जाकर यशोदा मैयाकी भेंट भर ली। परस्पर एक दूसरीको देखकर दोनोंका ही प्रसन्नताके कारण हृदय खिल गया था। मुखारविन्द पर आनन्दकी आभा प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। प्रेमाश्रु बहाते हुए एक दूसरीने परस्पर गाढ़ालिङ्गन किया। हृदय से हृदय सटाकर उन्होंने चिरकालकी अपनी विरह व्यथा दूर की। दोनोंके शरीर रोमाञ्चित हो रहे थे और दोनों ही परमानन्द सागरमें निमग्न थीं।

तदनन्तर देवकीजी आँसू बहाती हुई यशोदाजीसे मिलीं। सबसे यथायोग्य मिल भेंटकर यशोदाजीको सुंदर सुखकर आसन पर बिठाया गया और फिर आँसुओंको पोंछती हुई संकोच और शिष्टाचारके साथ अस्पष्ट वाणीसे शनैः शनैः देवकीजी कहने लगीं—"व्रजेश्वरि! हम क्या कहकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करें। जीजी! सची बात तो यह है कि तुमने हमें मोल ले लिया। तुमने जैसा हमारे साथ उपकार किया है, उसका बदला हम

अब तो दे ही क्या सकते हैं, यदि इन्द्रका ऐश्वर्य भी हमें प्राप्त हो जाय, तो भी हम तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं कर सकेंगे।"

यशोदाजीने कहा—"रानी ! भला, अपनोंसे भी ऐसी शिष्टाचार की बातें कही जाती हैं। उपकार आदि तो दूसरे करते हैं, घरवाले तो कर्तव्य पालन किया करते हैं।"

देवकीजीने कहा—"जीजी ! यह तो तुम्हारा कहना सत्य ही है, किन्तु घरवाले भी विपत्तिके समय जो कुछ करते हैं, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। सम्पत्तिमें तो सभी सगे सम्बन्धी सहानुभूति दिखाते हैं। विपत्तिमें जो साथ दें वे ही सच्चे सगे सम्बन्धी हैं। देवी ! आपने ऐसे समय हमारा साथ दिया, जब हमारा कोई सहायक नहीं था। सभी सगे सम्बन्धी साथ छोड़ गये थे। हम असहाय थे, कंसके कारावासमें थे। इन राम और कृष्णने अपने जन्मदाता माता पिताको देखा तक नहीं था। तब तुमने इनकी अत्यंत लाड़ प्यारसे उसी प्रकार रक्षाकी जैसे पुतलियोंकी पलक रक्षा किया करते हैं। इनके यथार्थ माता पिता तो तुम ही हो। तुमने ही इन्हें दूध पिलाया, गोदीमें लेकर खिलाया, प्रेम पूर्वक लालन पालन प्रीणन और पोषण किया। तुम सदा इनके अभ्युदयकी बातें सोचती रहीं। तुम्हारे ही कारण ये इतने बड़े हो गये। व्रजमें रहते हुए इन्हें कंसादिका कुछ भी भय नहीं रहा। तुमने कभी स्वप्नमें भी यह अनुभव नहीं किया, ये मेरी कोखके पुत्र नहीं हैं। सगे पुत्रोंकी भाँति तुमने इनकी रक्षा की। जो क्षुद्र हृदयके पुरुष होते हैं, उनके ऐसे विचार होते हैं कि यह मेरा है यह पराया है, किन्तु जो उदार चरित हैं विशाल हृदयके हैं उत्तम पुरुष हैं उनकी दृष्टिमें तो यह भेदभाव रहता ही नहीं। इसलिये ये रामकृष्ण तुम्हारे ही बच्चे हैं तुम्हारी कृपासे ही हमें भी ये देखने को मिले हैं।"

यह कहकर देवकीजीने समीपमें बैठी हुई बहुओंसे कहा—"बहुओ ! तुमरी सास ये ही हैं, तुम इनके पाइन लगो।"

यह सुनकर बड़ी होनेसे सर्व प्रथम रेवतीजी यशोदाजीके पाइ लगने आयीं। यशोदाजीने कहा—"बेटी ! तुम्हारी बड़ी आयु हो, बूढ़ बूढ़ैली हो। बेटा नाती पंतियोंसे घर भर जाय।"

देवकीजीने कहा—"यह तुम्हारे बड़े बेटाकी बहू है।"

यशोदाजीने कहा—"यह बलुआकी बहू है? अच्छा, यह तो बड़ी अच्छी है। रेवतीजीने अपने पतिके बलदेव, बलराम सङ्कर्षण, शेष, राम तथा बलदाऊ ये नाम तो सुने थे, किन्तु बलुआ नाम नहीं सुना था, अतः वे सुनकर हँस पड़ीं।"

फिर रुक्मिणीजी आयीं। अबके रोहिणीजी स्वयं ही बोलीं "यह कनुआकी बहू है।" यह सुनकर सब रानियाँ खिल खिला कर हँस पड़ीं। फिर सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या, कालिन्दी तथा और भी रानियाँ आ आकर पाँय लगने लगीं। यशोदाजीने पूछा—"ये किनकी बहुएँ हैं?"

रोहिणीजीने कहा—"ये सब तुम्हारे कनुआकी बहू हैं।"

यशोदाजीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा, कनुआने बहुत ब्याह किये हैं।"

हँसकर रोहिणीजी बोलीं—"जीजी ! अभी देखती तो चलो। वे सामने जो झुंडकी झुंड बैठी हैं, सब तुम्हारे कनुआकी ही बहुएँ हैं। पूरी सोलह सहस्र एक सौ आठ हैं।"

यशोदाजीने संतोष के साथ कहा—"अच्छा है, बहुतसी बहुएँ बड़े भाग्यसे मिलती हैं।" फिर बहुओंसे कहने लगीं—"बेटियो ! वहींसे कर लो। मैं तुम्हारी सास नहीं हूँ, सास तो तुम्हारी ये ही हैं। मैं तुम्हारे पतिकी धाय हूँ। बालकपनमें मैंने उसे दूध पिलाया है, तुम्हारी सासके आँचलमें दूधकी कमी थी। जब बड़ा हुआ तो अपनी माँके पास आ गया। अब तुम मुझे

अपने बच्चोंको खिलानेके लिये नौकर रख लो। तुम्हारे बच्चोंको तुम्हारी बहुओंके बच्चोंको खिलाया करूँगी। तुम सब एक एक टुकड़ा भी रोटी मुझे दे दिया करोगी, तो वही मेरे लिये बहुत है।"

रोहिणीजीने कहा—"हाय! जीजी! ऐसे नहीं कहते हैं। यह सब वैभव तुम्हारा ही तो है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! रोहिणीजी तथा देवकीजीसे यशोदाजी ऐसी बातें कर रही थीं, गोपिकायें चुपचाप बैठी सुन रहीं थीं। वे भगवानकी राजकुमारी पत्नियोंको देखकर आश्चर्य कर रही थीं। वे सोच रही थी, भगवान् इन राजकुमारियोंको पाकर हमें सर्वथा भूल ही गये होंगे। हम गाँवकी गँवार ग्वालिनी हैं। हममें न रूप है न गुण। ये सबकी सब रूपवती गुणवती और शीलवती हैं। इन्होंने अपनी सेवासे श्यामसुन्दरको वशमें कर लिया होगा। श्यामसुन्दर हमें भले ही भूल जायँ, किन्तु हम तो उन्हें नहीं भूल सकतीं। चन्द्रमाके लिये कुमुदिनी असंख्यों हैं, किन्तु कुमुदिनियोंके लिये तो चन्द्रमा एक ही है। हमारी तो श्यामसुन्दर ही गति मति हैं। यहाँ तो इनके बड़े ठाठ बाठ हैं। सिपाही हैं, पहरेवाले हैं। इतनी झुण्डकी झुंड रानियाँ हैं। सबके सामने प्रेमकी बातें होती नहीं। सबके सामने हम तो बोल भी न सकेंगी, हमारा मुँह भी न खुलेगा। सबके सम्मुख सङ्कोच होता है। भोजन भजन और हार्दिक भाव प्रदर्शन एकान्त में ही उत्तमतासे होते हैं। किन्तु यहाँ श्यामसुन्दर को एकान्त कहाँ मिलेगा। सब समय तो उनके पीछे पीछे प्रहरी घूमते रहते हैं। यदि कहीं एकान्तमें श्यामसुन्दर मिलते, तो उनसे दो दो बातें होती। अपने दुख सुखकी बातें कहती। उनकी निष्ठुरताके लिये उपालम्भ देतीं। वे हमें तनिकसा सुख देकर अब यहाँ आकर राजा बन गये। उनका खेल हुआ हमारा मरण हो रहा है। हमें

रोग सा लग गया। रात्रि दिन उन्हींकी मनोहर मूर्ति हृदय पटल पर नाचती रहती है, उन्हींकी स्मृति विकल बनाये रहती है। यदि एकान्तमें कुछ बातें हो जायँ तो हृदयका आवेग निकल जाय चित्त कुछ हलका हो जाय।

गोपिकायें ये ही सब बातें सोच रहीं थीं घट घटकी जानने वाले सर्वान्तर्यामी प्रभु उनके भावोंको ताड गये। अतः वे एकांत में जाकर अपनी परम प्रेयसी गोपियोंसे मिले। अब जैसे गोपिकाओंका और श्रीकृष्ण का मिलन होगा उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

लखि वैभव व्रजबाल बहुत मन महँ सुकुचावें।
सोचें—"कब एकान्त ठाँव महँ हरि कूँ पावें॥
अति रहस्यमय बात होहि नहिं सबके सम्मुख।
निभृत निकुञ्जनि माँहि मिलहिं प्रिय तब होवे सुख॥
समुझि भाव भगवान् पुनि, सब तैं निरजन थल मिले।
गाढालिङ्गन करयो हरि, चन्द्रानन सबके खिले॥

—:०:—

गोपियोंकी भगवान्‌से भेंट

(११७३)

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टम्
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ८२ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

सकुची सहमी सखी श्याम सकोच छुड़ायो ।
मधुर मधुर मुसकाइ करनि मुख अधर उठायो ॥
पूछें—का रिस भई न हौं फिरि व्रज महँ आयो ।
जो नहिँ चाहौं करन भाग्यने सो करवायो ॥
हैं प्रारब्ध अधीन सब, सुख दुख अरु बिछुरन मिलन ।
सार यही संसार महँ, मोमें थिर ह्वै जाइ मन ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकाओंको बहुत दिनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रजीके दर्शनोंकी लालसा थी। व्रजमें वे भगवान्‌की मधुर मूर्तिका दर्शन करते समय पलकोंका व्यवधान पड़ने पर पलकोंके बनाने वाले ब्रह्मा बाबाको कोसती थी। आज उन्हीं भगवान्‌को जब कुरुक्षेत्रमें देखा, तो वे उन्हें अपने नेत्रों द्वारा हृदयमें ले जाकर गाढालिङ्गन करने लगीं। इस प्रेमके कारण उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌का वह तादात्म भाव प्राप्त किया जो नित्य अभ्यास करने वाले योगियोंके लिये भी दुर्लभ है।"

जिनके साथ चिरकाल तक रहे हैं, जिनके साथ सरस, सुखद क्रीड़ायें की हैं, वे यदि हमसे पृथक् हो जाते हैं, तो उस समय हृदयमें कैसी पीड़ा होती है, उसका अनुभव भुक्तभोगीके अतिरिक्त कोई अन्य कर ही नहीं सकता। सयोगवश वह फिर मिल जाय और मिले ऐसा परिस्थितिमें कि जिससे उससे खुलकर बातें न कर सकें, न अपना दुख सुख सुना सकें और न उसका दुख सुख सुन सकें तो ऐसे मिलनसे तो वियोग ही श्रेष्ठ है। वियोगमें यह तो संतोष रहता है कि वे नहीं हैं। इस अधकचरे संयोगसे तो हृदय जलता रहता है, बारम्बार क्रोध आता है, खीज होती है, चित्त चाहता है उससे कभी न बोलें। किन्तु रहा नहीं जाता इसी ताड़में रहते हैं कहीं क्षण भरको भी मिल जायँ तो अपनी खीज तो मिटा लें। प्रेमका पंथ कैसा अटपटा है, इसमें कितनी विवशता है, कितना संकोच है। कितनी गुत्थियोंको सुलझाना पड़ता है। यदि प्रेमका पंथ इतना दुर्गम न होता तो सभी प्रेमी न बन जाते। किसीने इसे मोमके तुरंग पर चढ़कर अग्निमें जाना बताया है, किसीने इसे खड्गकी धार, किसीने अगाध समुद्र, किसीने बिना सिरका शरीर और किसीने लोक वेद बाह्य मार्ग बताया है। इसका पूर्ण निर्वाह तो व्रजकी गोपियोंने ही किया है। इसीलिये कविने गाया है "गोपी प्रेमकी ध्वजा"।

सूतजी कहते हैं—"*मुनियो! जिन गोपियोंके मनको मनन* करनेके लिये माधव मदनमोहनकी मधुर मनोहर मूर्तिके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं थी। जिन्होंने अपना तन, मन, प्राण तथा सर्वस्व श्यामसुन्दरके चरणोंमें ही समर्पित कर रखा था। जिनके चित्तको चित चोरके अतिरिक्त कोई चिन्तनीय पदार्थ नहीं था। जो पल भर भी अपने प्रियतमका वियोग सहन करनेमें समर्थ नहीं थीं, जो पलकोंके व्यवधान से ही तिलमिला उठतीं थीं। उन श्यामसुन्दरको जब उन्होंने कुरुक्षेत्रमें सबके सम्मुख

देखा तो लोक लाज वश उनका प्रत्यक्ष आलिङ्गन तो कर नहीं सकती थीं। वे नेत्रोंके द्वारा नन्दनन्दनकी मनोहर मूर्तिको अपने

हृदयमें ले गयीं और वहीं उनका भावनामय आलिङ्गन करने लगीं। भगवान्‌की मनोमयी मूर्तिके स्पर्श और आलिङ्गनसे उनके

रोमाञ्च हो रहे थे, वे प्रेममें अधीर बनी हुई थीं। भगवान् उनकी ऐसी दशा देख कर द्रवीभूत हुए। उन्होंने उनको एकान्तमें मिलनेका अवसर दिया। जहाँ अन्य कोई भी नहीं था ऐसे एकान्त स्थानमें जाकर उनका गाढ़ालिङ्गन किया फिर उनकी कुशल पूछी—"गोपिकाओंने लज्जा और संकोचवश कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उनकी नेत्रोंके कोरसे टप टप करके आँसू गिर रहे थे। वे श्यामसुन्दरसे दृष्टि नहीं मिला सकती थीं।"

विषयको अत्यंत कारुणिक तथा गम्भीर होते देखकर हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"क्यों गोपियो! हमसे अप्रसन्न हो क्या?"

इस पर आँसू पोंछते हुए एक गोपीने कहा—"महाराज! हम क्यों अप्रसन्न होंगी? हमारा क्या अधिकार है, हम आपकी कौन होती हैं?"

हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"ये सब अप्रसन्नताकी तो बातें ही हैं। अब मैं कैसे अपनी निर्दोषता सिद्ध करूँ। सत्य कहता हूँ, मैं मथुरा केवल इसी उद्देश्यसे गया था कि अपने स्वजनोंको—बन्धु बान्धवोंको सुखी करूँ। समस्त यादवोंको कंस बड़ा क्लेश दे रहा था, उससे हमारी जाति वाले सभी दुखी थे, इसलिये उसे मैंने भरी सभामें मार डाला। उसे मार क्या दिया, मानों सभीसे मैंने बैर मोल ले लिया। बहुतसे हमारे शत्रु हो गये। उन सबसे लड़ाई भिड़ाई होती रही। आज वहाँ जा, कल वहाँ जा इस प्रकार जबसे गया हूँ, तबसे अब तक बड़े झंझटोंमें फँसा रहा। इसीलिये व्रज भी नहीं आ सका। तुमसे भेंट भी न कर सका। बहुत दिनोंका व्यवधान होनेसे मैत्री शिथिल पड़ जाती है, किन्तु मैं तो निरंतर तुम्हारा स्मरण किया करता हूँ। क्या तुम भी कभी मेरी याद करती हो।"

इस पर एक प्रेमके कोपमें बोली—"महाराज ! आपकी याद या तो वह कूबरी करती होगी या ये सोलह सहस्र एक सौ आठ राजकुमारियाँ करती होंगी। हमसे आपका क्या संबन्ध ? हम भला आपको याद क्यों करने लगीं। हम तो चाहती हैं आपका कभी स्मरण न हो।" पुरानी स्वप्नकी बातोंको भूल जावें। हमारे पास न रूप है न विद्या न कोई और गुण ही। आपको प्रसन्न करनेका हमारे पास कोई साधन ही नहीं है।"

भगवान्‌ने अत्यंत ममताके साथ कहा—"तुमने जैसी सेवायें की हैं, वैसी तो कोई संसारमें कर ही नहीं सकता, किन्तु मैं उसका कुछ भी प्रत्युपकार न कर सका। इससे तुम मुझे कृतघ्न अवश्य ही समझती होगी। तुम आपसमें मेरी अकृतज्ञताकी बातें कर करके मुझे अवश्य ही भला बुरा कहती रही होंगी, किन्तु देखो, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। हम सब भाग्यके अधीन हैं। भगवान् ही जीवोंका परस्परमें संयोग कराते हैं और वे ही सबको जब चाहें पृथक् करा देते हैं। सब दैवाधीन होकर बर्ताव कर रहे हैं। मेरी इच्छा नहीं थी, मैं कभी तुमसे पृथक् होऊँ, किन्तु भाग्य ने हमको एक दूसरेसे दूर हटा दिया। संसारमें सदा कौन मिला रहता है, जो मिलता है, वह बिछुरता है। मिलना बिछुरने के ही लिये तो है। आकाशमें मेघ एक दूसरेसे आकर मिल जाते हैं, जहाँ प्रबल वायु चली तुरन्त छिन्न भिन्न हो जाते हैं, कहाँके कहाँ हो जाते हैं। खेतमें न जाने कहाँ कहाँके बीज आकर उत्पन्न होते हैं। पकने पर कोई बीज किसीके पेटमें चला जाता है, कोई किसीके। सब इधर उधर हो जाते हैं। गुरुकुलोंमें पाठशालाओं में कहाँ कहाँके छात्र पढ़ने आते हैं, सब कितने प्रेमसे हिल मिल कर पढ़ते हैं। पढ़नेके पश्चात सबके प्रारब्ध उन्हें पृथक् पृथक् पटक देते हैं। सब कहाँके कहाँ हो जाते हैं। नदीके वेगमें कितने तिनके बहते हैं। कुछ बहते बहते आपसमें मिल जाते हैं, कुछ

दूर तक साथ साथ बहते हैं। फिर कोई प्रारब्धवश ऐसी तीव्र लहर आती है कि सब बारह बाट हो जाते हैं। कोई कहीं बह जाता है कोई कहीं। आँधीमें कितने पत्ते एकत्रित हो जाते हैं। फिर एक आँधीका प्रबल झोंका आया सब तितिर बितर हो गये। मरुभूमिमें बालूके कैसे टीले बन जाते हैं। कहाँ कहाँके कण एकत्रित होकर परस्परमें सट जाते हैं, दूसरे दिन वायु चली फिर उन बालूके टीलोंका नाम भी नहीं रहता। वे बालुकाकण कहींके कहीं उड़ जाते हैं एक साथ आकर दूर दूरके पशु जङ्गलों-में घास चुगते हैं। सायंकाल हुआ कोई कहीं चला गया कोई कहीं। नौकामें कहाँ कहाँ के लोग आकर साथ बैठ जाते हैं। नदी के साथी बन जाते हैं। जहाँ पार हुए, कोई कहीं चला गया, कोई कहीं। आककी बौंड़ीमें रुईके बबूले साथ बढ़ते हैं। जहाँ बौंडी पकी तहाँ वे बबूले वायुमें उड़ने लगते हैं कोई कहीं उड़ जाता है कोई कहीं। फिर वे कभी एक बौंड़ीमें आकर एकत्रित नहीं होते। फूल एक साथ वाटिकामें खिलते हैं। खिलने पर माली तोड़ता है। कोई देवता पर चढ़ते हैं, कोई कामिनीके कंठका हार बनते हैं। कोई मसले जाते हैं, कोई पीसे जाते हैं, कोई परदेश भेज दिये जाते हैं। बेलों पर, वृक्षों पर फल साथ साथ पैदा होते हैं। टूटने पर प्रारब्ध वश कहींके कहीं हो जाते हैं। इसी प्रकार श्री भगवान् प्राणियों का बार बार एक दूसरेसे संयोग कराते हैं। वियोग कराते हैं, फिर कालान्तरमें मिला देते हैं। अब देखो, हम तुमसे पृथक् हो गये थे। भाग्यने फिर हमें मिला दिया। फिर हम एक दूसरेसे मिलकर सुखी हुए।

संसारमें जिससे भी प्रेम करो वही बन्धनका कारण बन जायगा। मृगसे प्रेम करो मृग होना पड़ेगा। पत्नीसे प्रेम करो तो दूसरे जन्ममें फिर पति बनना होगा। पुत्रसे प्रेम करो, तो फिर तुम्हें पुत्र बनना होगा। सारांश यह है कि जिससे प्रेम

उसी के बन्धनमें बँधना होगा। एक मेरी ही ऐसी भक्ति है जो सब बन्धनोंसे मुक्त करके भवसागरसे मोक्ष करा देती है, जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसे सब कुछ प्राप्त हो गया। जिसे मेरी भक्ति नहीं प्राप्त हुई, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। यह बड़े सौभाग्यकी बात है, यद्यपि में तुमसे दूर चला गया। तुम्हें वियोग जन्य दुःख प्राप्त हुआ, किन्तु इस वियोगमें भी तुम्हें मेरी प्राप्ति कराने वाला मेरा प्रेम बना रहा। देखो, शरीरका मिलना अत्यंत तुच्छ है। मिलना तो मनसे ही श्रेष्ठ है। मन मिला हुआ है, तो शरीर कहीं भी रहे सदा मिले ही हुए हैं। मन न मिला तो शरीर के मिलन पर भी वह मिलन नहीं है।

तुम यह मत समझो मैं वृन्दावनमें नहीं हूँ। ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ मैं न होऊँ। जैसे सभी भौतिक पदार्थोंमें आकाश विद्यमान है। मुझे तुम कोई ऐसा देह बता दो जिसमें जल तत्व न हो। कोई ऐसा स्थान सुझा दो जहाँ वायु तथा अग्नि न हो। जैसे ये पञ्च भूत सर्वत्र विद्यमान् हैं उसी प्रकार मैं भी सर्वत्र विद्यमान् हूँ। मैं सर्वान्तर्यामी हूँ, सर्वगत हूँ, सर्वत्र हूँ, सबमें हूँ, सब कालमें हूँ, मैं ही सबका कर्ता भोक्ता हूँ। मैं ही सबके बाहर हूँ, मैं ही सबके भीतर हूँ और मैं ही सबके मध्यमें हूँ। मैं ही सब स्थानोंमे विद्यमान् हूँ।

इन शरीरों मे क्या है। कारण रूपसे तो पञ्चभूत व्याप्त हैं, तथा भोक्ता रूपसे आत्मा व्याप्त है। मुझ परम आत्मा रूप अक्षर ब्रह्ममें ये दोनों ही प्रतीत हो रहे हैं। अतः मुझे ही उत्तम पुरुष परमात्मा समझो। बोलो, कुछ समझीं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान्ने इतनी ऊँची अध्यात्म ज्ञानकी शिक्षा दी तो उन्होंने न हाँ कहा न ना। वे निरन्तर भगवान्के नामका उनके मनमोहन रूपका स्मरण करती रहीं। वे उनका ध्यान करते करते लिङ्ग शरीरको भूल गयीं।

उनका स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकका भेद मात्र सर्वथा छूट गया। वे भगवान्के स्वरूपमें तल्लीन हो गयीं। तन्मय हो जानेसे वे सब सुधि बुधि भूल गयीं। उनकी ऐसी विचित्र अलौकिक दशा देख कर भक्त वत्सल भगवान्को बड़ी ही करुणा आयी। उन्होंने सोचा—"इन्हें परिव्राज संन्यासियोंकी दुर्लभ गति दे दूं। देह बन्धनसे विमुक्त बना दूँ। अतः उन्हें झकझोर कर भगवान् कहने लगे—"गोपियो! तुम किसका ध्यान कर रही हो? अच्छा, तुम मुझसे कोई उत्तमसे उत्तम वर माँग लो।"

यह सुनकर सबकी सब एक स्वरमें कहने लगीं—"हे कमलनाभ! आप यदि हमें वर देना चाहते हैं, तो एक वर दीजिये।

भगवानने कहा—"वह कौनसा वर? तुम संकोच छोड़कर उसे माँग लो।"

गोपियोंने कहा—"आपने अभी कहा है कि मैं अगाध बोध हूँ, परम ज्ञान सम्पन्न हूँ, योगियों द्वारा मेरा हृदय कमलमें चिन्तन किया जाता है तथा संसार कूपमें पतित प्राणियोंका मैं उद्धार करने वाला हूँ। मैं ही सबका एक मात्र अवलम्ब हूँ। हम आपकी इन बातोंका अविश्वास नहीं करतीं। आप कहते हैं, तो आप अवश्य होंगे। आप निर्विकार निराकार रूपसे योगियों और परमहंसों द्वारा अवश्य चिन्तन किये जाते होंगे, किन्तु हम तो घरमें रहने वालीं गृहस्थिनी गँवारिनि गोपिकायें हैं। इसलिये हमारी तो आपसे प्रार्थना यही है, कि ये कमलोंके सदृश, कोमल गुदगुदे सुगंधियुक्त आपके प्रत्यक्ष चारु चरण निरन्तर हमारे हृदयमें चिन्तामणिके सदृश प्रकाशित होते रहें। इनके दर्शनोंके लिये हमें किसी अन्य आलोककी आवश्यकता न रहे। ये साकार चरणारविन्द हमारे मन मंदिरमें सतत स्थापित रहे आवें। हम अहर्निशि इनकी पूजा अर्चामें ही लगी रहें। यही हमारा वर

है, यही हमारी भिक्षा है और यही हमने आपकी शिक्षा दीक्षाका सार समझा है। हम श्री वृन्दावनमें ही पड़ी रहें। वहीं आपका चरणारविन्द हमारे हृदयोंमें चमकता रहे, ऐसा वर आप हमें दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियोंके ऐसे प्रेमको देखकर भगवान् पानी पानी हो गये। गोपियोंके एक मात्र गुरु उनके सर्वस्व उन गोपीजन वल्लभ भगवान्ने उन सब गोपियोंके ऊपर कृपा की। वे इस प्रकार प्रेमकी बातें कर ही रहे थे, कि रुक्मिणीने आकर कहा—"आप यहाँ बैठे बातें कर रहे हैं, धर्मराज कबसे आपकी प्रतीक्षामें बैठे हुए हैं।"

अब भगवान् का ध्यान भंग हुआ। रस भंग हो गया। उन्होंने कहा—"अच्छा, चलता हूँ।" तुरंत उन्होंने गोपियोंसे कहा—"अच्छी, बात है, अभी तो हम यहाँ बहुत दिन साथ रहेंगे, फिर बातें होंगी।" यह कहकर सबसे प्रेमपूर्वक मिल भेंट कर भगवान् धर्मराज युधिष्ठिरसे मिलने आये। अब धर्मराजसे जैसे भगवान्की भेंट होगी, उस कथा प्रसङ्गको आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

भरि नयननि जल कहें गोपिका हरि तुम ज्ञानी।
का समुझें हम योग ज्ञानयुत तुमरी बानी॥
कीयो जो उपदेश साँच हम ताकूँ मानें।
किन्तु न जसुमति तनय छाँड़ि हम जग कछु जानें॥
वरदाता! वर देहु जिह, जाइ न हमरी अनत मति।
तव मूरति हिय महँ बसे, चरन कमल महँ होहि रति॥

धर्मराज युधिष्ठिरसे भेंट

(११७४)

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ८३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

करी कृपा करुनेश सबनिकूँ धीर बँधायो।
धरमराजने दरश हेतु सन्देश पठायो॥
गोपिनिकूँ करि विदा द्वारपै यदुवर आये।
करि स्वागत सत्कार नृपति पाडव बैठाये॥
कुशल क्षेम पूछी तबहिं, कहहिं धरमसुत नयन भरि।
भई कुशल अब दयामय! तव चरननिके दरश करि॥

जब अधिक पुण्योंका उदय होता है तब भगवान् के तथा भगवद् भक्तों के दर्शन होते हैं। शरीर स्वस्थ रहे, धन धान्य यथेष्ट आता रहे, इतनी ही कुशल नहीं है। यथार्थ कुशल तो यह है, कि भगवान् के दर्शन हो जायँ, भगवान् हमें अपना लें। आत्मीय करके स्वीकार करलें। भगवान् ने जहाँ हमें अपनाया, जहाँ

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! गोपियोंके गुरु और उनकी एक मात्र गति भगवान् वासुदेवने उन मजाङ्गनाओंपर इस प्रकार कृपा की। फिर आकर अपने युधिष्ठिरादि समस्त बन्धु बान्धवोंसे उनकी कुशल पूछी।"

हम भगवदीय अथवा भागवत बन गये, तहाँ अकुशल रहती ही नहीं। सर्वत्र कुशल ही कुशल हो जाती है

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् गोपीजनवल्लभ गोपियों को सान्त्वना देकर उन्हें भली भाँति समझा कर बाहर आये। वहाँ पाँचों पांडव प्रभुकी प्रतीक्षा कर रहे थे। आते ही भगवान प्रेम पूर्वक सबसे मिले। फिर भगवान् ने धर्मराजसे पूछा—"कहो, भाई, अच्छे तो हो, हमारे और सब बन्धु बान्धव सम्बन्धी अच्छी प्रकार हैं न ?"

धर्मराज युधिष्ठिर का हृदय प्रेम के कारण द्रवित हो रहा था। भगवान् के चरणारविन्दों के दर्शन से वे अपनेको परम पुण्यवान् अनुभव कर रहे थे उनका मन परम प्रमुदित हो रहा था। कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। बड़े कष्टसे रुक रुक कर बोले— "प्रभो! हम अपनी कुशल क्या कहें, अब तक चाहे हमारी कुशल न भी रही हो, किन्तु अब तो कुशल ही कुशल है।"

भगवान ने हँसकर कहा—"क्यों, अब क्या हो गया ?"

धर्मराज ने कहा—"हो क्या गया, हमें मनुष्य जीवन का लाभ मिल गया। देव ! यह जीव कबसे इस संसार रुपी भवाटवी में भटक रहा है। यह भ्रमण क्रिया कभी समाप्त नहीं एक के पश्चात् दूसरा और दूसरेके पश्चात् तीसरा इस प्रकार जन्म के ऊपर जन्म होते रहते हैं। जीव अज्ञानके वशीभूत होकर चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है, किन्तु उसका अज्ञान नाश नहीं होता। जब तक अज्ञान है, तब तक जन्म मरण का चक्कर है। यह जन्म मरणका चक्र तभी समाप्त होगा जब इस प्राणीके कर्णपुटोंमें महापुरुषोंकी वाणी द्वारा निकली हुई तुम्हारे चरणारविन्दोंकी कथा रूप सुधा भर जाय। उससे हृदय परिप्लावित हो जाय। जिन्होंने उस सरस सुधाका प्रेमपूर्वक पान किया है, उनका कभी अमङ्गल नहीं हो सकता वे जन्म

मरणके चक्रसे सदाके लिये निकल सकते हैं। सो, देव ! हमने तो आपके अब प्रत्यक्ष दर्शन कर लिये हैं।"

भगवानने कहा—"धर्मराज ! अब इन बातोंको तो रहने दो, अपने समाचार सुनाओ। आज कल राज्यकी कैसी परिस्थिति है, दुर्योधनादि कौरवोंका आपके साथ कैसा व्यवहार है।"

धर्मराज बोले—"मैं क्या सुनाऊँ प्रभो ! आप सब जानते हैं, आप सर्वज्ञ तथा सर्वान्तर्यामी हैं। जब जब संसारमें अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब आप अवतार लेकर दुष्टोंका संहार और शिष्टोंकी रक्षा करते हैं। कालक्रमसे नष्ट होते हुए वेदोंका रक्षा करनेके निमित्त आप अपनी योगमायाकी सहायतासे मनुष्यावतार धारण करते हैं। आप परमहंसोंको एकमात्र गति हैं, आप निजानन्दस्वरूप हैं। आप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे परे हैं। आप आनन्दसे परिपूर्ण हैं, आप अखण्ड, अकुण्ठित और विज्ञानस्वरूप हैं. आपके चरणोंमें प्रणाम करनेसे ही हम सब ओर-से निश्चिन्त हो गये हैं। दुष्टोंका आप स्वयं दमन करेंगे और शिष्टोंका स्वयं पालन करेंगे।"

भगवान्ने कहा—"राजन् ! इस पृथिवी पर राजाओंके रूपमें बहुतसे असुर उत्पन्न हो गये हैं। जब तक उन सबका संहार न होगा, तब तक संसारमें शांति स्थापित होना असंभव है। अब मेरा विचार आपके पास कुछ दिन इन्द्रप्रस्थ आकर रहने का है।"

धर्मराज ने कहा—"तब तो हमारे भाग्य ही खुल जायँगे। प्रभो ! हम तो आपके यन्त्र हैं, हम से तो आप जो भी करवावें वही करेंगे।"

भगवान् बोले—"राजन् ! जब तक एक घोर युद्ध न होगा, तब तक शांति हो नहीं सकती। सर्वत्र राग, द्वेष कलह और दम्भ का प्राबल्य हो गया है। प्रतीत ऐसा होता है, यह वसुन्धरा रक्तकी

प्यासी है। मुझे अनुभव हो रहा है, इसी कुरुक्षेत्रमें निकट भविष्यमें एक महान् युद्ध होगा, जिसमें भूका भार बने हुये बहुत से योद्धा नष्ट हो जायँगे। सैन्यशक्ति आवश्यकतासे अधिक बढ़ गयी है। सब एक दूसरेको परास्त करना चाहते हैं प्रजाको पुत्रकी भाँति पालन करनेवाले वास्तविक राजा रहे ही नहीं। सब दस्यु लुटेरोंकी भाँति प्रजाको लूट रहे हैं। जब तक इनका संहार नहीं होता तब तक कोई भी सज्जन पुरुष सुख सन्तोषकी साँस नहीं ले सकता। अच्छा, बताइये आप अकेले ही आये? बूआ जी तो प्रातःकाल ही आयी थीं द्रौपदी नहीं आयीं।"

अर्जुनने कहा—"वे भीतर चली गयीं हैं।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"सब लोग अपने समाजमें ही जा कर सुखी होते हैं। देखो, वे स्त्रियाँ चली गयीं।"

धर्मराज ने सहदेवसे कहा—"सहदेव! तुम भीतर जा कर द्रौपदी को सूचित कर दो कि भगवान् आ गये हैं, वह आ कर प्रणाम कर जाय।"

भगवान्ने शीघ्रतासे कहा—"नहीं, नहीं, उन्हें यहाँ बुलाने की क्या आवश्यकता है, मैं ही भीतर चला जाऊँगा। यहाँ सबके सम्मुख उन्हें संकोच भी होगा और मुझे तो भीतर बाहर कहीं संकोच नहीं। आप बैठें। मैं भीतर होकर अभी आता हूँ।" यह कह कर भगवान् भीतर चले गये। वहाँ जा कर देखते हैं, कि स्त्रियोंका बड़ा भारी समाज लगा हुआ है सभी सुन्दर बहुमूल्य गलीचोंपर बैठी हुई पान चबा रहीं हैं निःसंकोच बैठी हुई परस्परमें हँस हँस कर बातें कर रही हैं सबके बीचमें द्रौपदीजी बैठी हुई हैं। उन्हें घेर कर भगवान्‌की सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ बैठी हैं। द्रौपदीजी एक एक

रानी से बातें कर रही हैं। आपस में बड़ी सरस मीठी मीठी बातें हो रही हैं। उस समाजमें कोई भी बड़ी बूढ़ी स्त्री नहीं है, जिससे किसी को संकोच हो। सब नई बहुएँ ही हैं। भगवान् के भीतर जाते ही सभीने शीघ्रतासे अपना अपना आँचल सम्हाल लिया और उठ कर खड़ी हो गयीं।

द्रौपदी ने लजाते हुए उठकर भगवान् को प्रणाम किया। रंगमें भंग हो गयी, सभी स्त्रियाँ सहम गयीं सक पका गयीं।

भगवान ने द्रौपदीजीसे कहा—"कहो पांचाली! अच्छी हो न? मैंने असमय में तुम्हारी बातों में विघ्न डाला। मैं वैसे ही मिलने चला आया। अब तुम आपसमें जो मीठी मीठी बातें कर रही थीं वही करो। हमलोग बाहर बातें करते हैं। फिर भेंट होगी।" यह कह कर भगवान् तुरन्त उलटे पाँवों लौट गये। भगवान के लौटते ही सब फिर खिलखिला कर हँस पड़ीं और उनमें बातें होने लगीं।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! द्रौपदीजीमें और भगवान् की पत्नियोंमें क्या क्या बातें हो रहीं थीं उन्हें हम भी सुनना चाहते हैं। ऐसी क्या मीठी मीठी बातें हो रही थीं।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! स्त्रियोंमें और बातें ही क्या होगीं। उनकी बातोंके तीन ही विषय होते हैं, या तो अपने पतिके स्वभावकी बातें या अपने विवाह और वस्त्राभूषणकी बातें या घर गृहस्थीका रोना। वे आपसमें अपने अपने विवाहकी बातें कर रही थीं। आप त्यागी महात्मा होकर विवाह फिवाहकी बातोंको सुनकर क्या करोगे?"

शौनकजीने कहा—"नहीं, सूतजी! यदि संसारी लोगोंके विवाहकी बातें होतीं तो उन्हें हम कभी न सुनते। भगवान्‌की पत्नियाँ तो यही बता रही होंगी कि भगवान्‌ने हमारे साथ कैसे विवाह किया। यह तो भगवत् कथा ही है। भगवान् के

विवाहकी कथा सुनने से तो पाप कटते हैं आप हमें इस प्रसङ्ग को अवश्य सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! जब आपकी आज्ञा है, तो सुनाता हूँ । द्रौपदीजीने जैसे सब रानियोंसे उनके विवाहके सम्बन्धमें प्रश्न किये और जैसे उन सबने उत्तर दिये उस कथाको मैं सुनाता हूँ आप समाहित चित्तसे श्रवण करें।"

छप्पय

इत यदुनन्दन पांडुसुतनि सँग प्रेम दिखावें।
उत पांचाली प्रभु पत्निनि सँग मिलि बतरावें॥
निज विवाहकी बात चलाई सब उकसाई।
पूछें सबतें कह्यो कृष्ण तुम कस अपनाई॥
रुक्मिनि ! सत्ये ! लक्ष्मणे ! हे भद्रे ! हे जाम्बवति !
सतभामे ! रोहिनि कहो, अपनाई ज्यों जगत्पति॥

द्रौपदीजीकी श्रीकृष्ण पत्नियोंसे विवाहकी बातें

(११७५)

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान्स्वयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन्स्वमायया ॥*

(श्री० भा० १० स्क० ८३ अ० ६,७ श्लो०)

छप्पय

कृष्णा तैं सब कहैं ब्याहकी बिहँसि कहानी ।
सत अरु सोलह सहस आठ श्रीहरिकी रानी ॥
रुक्मिनिने निज. हरन सत्यभामा मनि चोरी ।
जाम्बवतीने कही मिली हरि तैं ज्यों जोरी ॥
कालिन्दी तपकी कथा, सत्याने वृप नाथिनो ।
कह्यो मित्रविन्दा स्वयं, बलपूर्वक हथियायवो ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण पत्नियोंसे द्रौपदीजी पूछ रहीं हैं—"हे रुक्मिणि ! हे भद्रे ! हे जाम्बवती ! हे सत्ये ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि ! हे मित्रविन्दे ! हे रोहिणि ! हे लक्ष्मणे ! हे श्रीकृष्णचन्द्रकी अन्य पत्नियो ! तुम मुझे यह बात बताओ कि अपनी मायासे ही साधारण लोगोंका अनुकरण करने वाले भगवान्ने तुमसे किस प्रकार विवाह किया।"

स्त्री और पुरुषोंके जीवनमें अनेक सुखद और दुखद प्रसङ्ग आते हैं। बहुतसे ऐसे प्रसङ्ग हैं जो समय पाकर विस्मरण हो जाते हैं। फिर उनका स्मरण ही नहीं रहता, किन्तु विवाहका एक ऐसा सरस प्रसङ्ग है कि वह कभी भूला नहीं जाता। दो हृदय आपसमें जिस कालमें मिलते हैं, वह काल तो चला जाता है, किन्तु दोनों ही हृदयोंमें अपनी अपनी मधुर स्मृति छोड़ जाता है। जैसे मिश्री खाते समय भी मीठी लगती है और उसकी जब याद आ जाती है, तब भी मुँहमें पानी भर आता है, उसी प्रकार विवाहके समय तो वर वधूको प्रसन्नता होती ही है, जब जब उसकी स्मृति आ जाती है तब तब हृदयमें एक प्रकारकी सरसता छा जाती है। यदि विवाह दोनोंके अनुरागसे दोनोंके चाहने पर हुआ तब तो उसकी स्मृति अत्यंत ही मधुर हो जाती है। स्त्री पुरुष परस्परमें मिलते हैं, तो मनोविनोदके लिये ऐसा सरस सुखद प्रसङ्ग छेड़ते हैं, जिससे अतीतकी सुखद स्मृतियाँ जागृत हो उठें। मनमें मधुरता उत्पन्न हो जाय। इसलिये पति पत्नीके मिलनका सुखद प्रसङ्ग छेड़कर समवयस्क स्त्री पुरुष अपना मनोरंजन करते हैं। उत्सव पर्वोपर जो परस्परमें सम्मिलन होता है, वह ऐसे ही प्रेम प्रसङ्गोंसे तो सुखद बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! द्रौपदीजी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी पत्नियोंसे प्रेम पूर्वक हृदय से हृदय सटाकर मिलीं। फिर आपसमें कुशल समाचार पूछे। रुक्मिणीजी द्वारा पहिले तो पूछा—"इनके के लड़के हैं इनके के लड़के हैं ?"

हँसकर रुक्मिणीजीने कहा—"हमारे वे तो पंक्तिभेद करना जानते ही नहीं। जैसे विवाह आदिके परोसामें सबको चार चार लड्डू आठ आठ कचौड़ियाँ दी जाती हैं, वैसे ही हम सबके दस दस लड़के और एक एक लड़की है। अन्तर इतना ही है, तुम्हारे

पाँचपति हैं पाँच लड़के हैं, हमारे एक पति हैं सबके दश दश लड़के हैं।"

हँसकर द्रौपदीजी बोलीं—" फिर तुम सब हो भी तो जगत्-पतिकी पत्नी। इससे बढ़कर तो होनी ही चाहिये। अच्छा, मैं यह पूछना चाहती हूँ कि तुम्हारा भगवान्‌के साथ कैसे विवाह हुआ। तुमने अपनी इच्छासे भगवान्‌के साथ विवाह किया या भगवान् तुम्हें बल पूर्वक पकड़ लाये। तुम सभी मुझे अपने अपने विवाहकी बात सुनाओ।"

यह सुनकर उनमेंसे लक्ष्मणा बोली—"जीजी ! पहिले तुम हमें अपने विवाहकी बात सुनाओ। तुम्हारा पाँचों पांडवोंके साथ विवाह कैसे हुआ ?"

यह सुनकर सकुचाती हुई द्रौपदी बोली—"बहिनो ! मेरे विवाहका वृत्तान्त बड़ा विचित्र है। मैं किसी मानवीय स्त्रीके उदर से उत्पन्न नहीं हुई हूँ। मैं अयोनिजा हूँ, मेरा जन्म अग्निकुण्डसे हुआ है। जब मैं बड़ी हुई तो मेरे पिता महाराज द्रुपदने मेरा विवाह पांडवोंमें मंझले गाँडीव धनुर्धारीके साथ करना चाहा। तब पांडव गुप्त रूपसे रहते थे। मेरे पिताने एक कृत्रिम मत्स्य बनाया और प्रण किया इसे जो वेध दे वही मेरी कन्याका पति हो। साधुवेषमें गांडीव धनुर्धारी भारतने वह मत्स्यवेध किया। वे मुझे लेकर गये। मेरी सासने भीतरसे ही कह दिया। भिक्षामें आज जो तुम्हें वस्तु मिली है पाँचों बाँट लो। फिर वेदव्यास भगवान्‌ने आकर पूर्वजन्मकी बातें बताईं और कहा पांचाली पाँचों ही पांडवोंकी पत्नी होगी, इसे कोई अन्यथा कर नहीं सकता।" भवितव्यताके आगे सबने सिर झुका दिया मैं पाँचोंकी पत्नी हुई। अब तुम सब मुझे अपने अपने विवाहकी बातें सुनाओ। सबसे पहिले रुक्मिणी जीजी ही सुनावें।

यह सुनकर रुक्मिणीजी बोलीं—"मेरा भी भगवान्‌से विवाह विचित्र रीतिसे ही हुआ। मैंने सर्व प्रथम नारदजीके मुखसे भगवान्‌की प्रशंसा सुनी थी। तभीसे उनका रूप मेरे मनमें बस गया। मेरे पिताने मेरी सगाई मेरी इच्छाके विरुद्ध शिशुपालसे कर दी। बरात भी आ गयी। मेरा अनुराग समझकर भगवान् तुरन्त मेरे पिताके पुरमें आये। और राजा भी अस्त्र शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर समर करनेकी लालसासे आये थे। देवी पूजासे निवृत्त होकर मैं ज्यों ही निकली त्यों ही भगवान् मुझे रथ पर चढ़ाकर चल दिये। यह देखकर नृपति गण धनुषोंपर बाण चढ़ाकर युद्ध करनेके निमित्त उद्यत हुए। मेरे प्राणनाथ किसीसे कम नहीं थे। वे बड़े बड़े अजेय वीरोंके मणिमय मुकुटोंसे सुशोभित मस्तकों पर अपने चरण रखकर ये गये वे गये। सब देखतेके देखते ही रह गये। उनके चरणारविन्दोंसे गिरे हुए पराग कण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों मणियोंके कण बिखर रहे हों। जैसे बकरियोंके झुण्डसे बाघ अपने भागकी बकरीको निर्भय होकर उठा ले जाता है। जैसे सहस्रों भेड़ोंमेंसे भेड़िया जिस भेड़को चाहता है ले जाता है, जैसे सिंह सियारोंके बीचसे अपने भागको लेकर चलता बनता है उसी प्रकार हमारे ये लक्ष्मीनिवास उन उतने बल दर्पित राजाओंके बीचसे मुझे उठा ले गये। सब टुम्म टुम्म देखतेके देखते ही रह गये। सबकी सिटिल्लियाँ भूल गयीं, कोई चूँ भी न कर सका। अपनी पुरीमें लाकर मेरे साथ विवाह करके मेरी मनोकामना पूर्ण की। इन अच्युतकी मैं सदासे दासी रही हूँ, अब भी हूँ और जन्मजन्मान्तरोंमें भी सदा रहूँगी। तुम ऐसा आशीर्वाद दो कि इन पुनीत पाद पद्मोंकी मैं सदा प्रेमपूर्वक पूजा करती रहूँ।" यह कहकर रुक्मिणीजी चुप हो गयीं।

तब द्रौपदीजी बोलीं—"अच्छा, बहिन! सत्यभामा! तुम भी सुनाओ अपने विवाहकी बात।"

यह सुनकर सत्यभामा लजा गयी, उसने संकोचके साथ कहा—"मेरा क्या समाचार मुझे तो मेरे पिताने अपना कलंक मिटानेके लिये भगवान्को दिया था। बात यह थी, मेरे पिताके पास एक स्यमंतक मणि थी, उनके भाई उसे पहिनकर वनमें गये। वनमें एक सिंहने उन्हें मार डाला। मेरे पिता अपने छोटे भाईके न आनेसे दुखी थे। उसी दुखके आवेगमें कहीं उन्होंने कह दिया कि मेरे भाईको संभव है भगवान्ने मार दिया हो।" भगवान्ने जब यह बात सुनी तो अपने मिथ्या कलंकको दूर करने के निमित्त वनमें गये और बहिन जाम्बवतीके पिता ऋक्षराज जाम्बवान्को जीतकर उनसे मणि लाकर मेरे पिताको दी, इस प्रकार उन्होंने अपना मिथ्या कलंक मिटा दिया। उनका कलंक तो मिट गया, किन्तु मेरे पिताके सिरपर उलटा कलंकका टीका लग गया। मेरे पिता डर गये, सोचते सोचते उन्होंने यही निर्णय किया कि मैं अपनी पुत्रीका विवाह श्यामसुन्दरसे कर दूँ, तो मेरा यह कलङ्क दूर हो जायगा। यद्यपि मेरे पिताने मेरी सगाई किसी दूसरेके साथ कर दी थी। कन्या तो पिताके अधीन होती है। पिता जिसके हाथमें उसका हाथ पकड़ा देता है, उसीके साथ वह चली जाती है। जब मैंने सुना मेरे पिता मुझे श्यामसुन्दरको देना चाहते हैं, तो मुझे अत्यंत ही प्रसन्नता हुई। मेरे पिताने जिनके साथ सगाई की थी, उन्हें न देकर इन सर्व समर्थ श्यामसुन्दरके ही चरणोंमें मुझे समर्पित कर दिया। आगे की कथा अत्यंत कारुणिक है। उसे अब न कहूँगी।" यह कहकर सत्यभामाके नेत्रोंसे आँसू झरने लगे वे मुख ढाँप कर रोने लगीं।

तब द्रौपदीजीने जाम्बवतीसे पूछा—"बहिन तुम्हारा विवाह कैसे हुआ।"

जाम्बवती बोली—"जीजी ! मेरे पिता चिरजीवी हैं। श्रीरामावतारमें मैंने इन श्यामसुन्दरको जब देखा, तभी मैंने इन्हें

यह सुनकर रुक्मिणीजी बोलीं—"मेरा भी भगवान्‌ [illegible] विचित्र रीतिसे ही हुआ। मैंने सर्व प्रथम नारदजीके भगवान्‌की प्रशंसा सुनी थी। तभीसे उनका रूप मेरे मन [illegible] गया। मेरे पिताने मेरी सगाई मेरी इच्छाके विरुद्ध शिशु [illegible] कर दी। बरात भी आ गयी। मेरा अनुराग समझकर [illegible] तुरन्त मेरे पिताके पुरमें आये। और राजा भी अस्त्र शस्त्रोंसे [illegible] ज्जित होकर समर करनेकी लालसासे आये थे। देवी पूजासे [illegible] होकर मैं ज्यों ही निकली त्यों ही भगवान्‌ मुझे रथ पर च [illegible] चल दिये। यह देखकर नृपति गण धनुषोंपर बाण चढ़ाकर [illegible] करनेके निमित्त उद्यत हुए। मेरे प्राणनाथ किसीसे कम नहीं [illegible] वे बड़े बड़े अजेय वीरोंके मणिमय मुकुटोंसे सुशोभित मस्[illegible] पर अपने चरण रखकर ये गये वे गये। सब देखतेके देखते [illegible] रह गये। उनके चरणारविन्दोंसे गिरे हुए पराग कण ऐसे सुश[illegible] भित हो रहे थे मानों मणियोंके कण बिखर रहे हों। जैसे बक[illegible] योंके झुण्डसे बाघ अपने भागकी बकरीको निर्भय होकर उठा [illegible] जाता है। जैसे सहस्रों भेड़ोंमेंसे भेड़िया जिस भेड़को चाहता [illegible] ले जाता है, जैसे सिंह सियारोंके बीचसे अपने भागको लेकर [illegible] चलता बनता है उसी प्रकार हमारे ये लक्ष्मीनिवास उन उत [illegible] थल दर्पित राजाओंके बीचसे मुझे उठा ले गये। सब टुम्म टुम्म [illegible] देखतेके देखते ही रह गये। सबकी सिटिल्लियाँ भूल गयीं, कोई [illegible] चूं भी न कर सका। अपनी पुरीमें लाकर मेरे साथ विवाह करके मेरी मनोकामना पूर्ण की। इन अच्युतकी मैं सदासे दासी रही हूँ, अब भी हूँ और जन्मजन्मान्तरोंमें भी सदा रहूँगी। तुम ऐसा आशीर्वाद दो कि इन पुनीत पाद पद्मोंकी मैं सदा प्रेमपूर्वक पूजा करती रहूँ।" यह कहकर रुक्मिणीजी चुप हो गयीं।

तब द्रौपदीजी बोलीं—"अच्छा, बहिन! सत्यभामा! तुम सुनाओ अपने विवाहकी बात।"

तपस्या किया करती थी, मेरे अभिप्रायको समझकर श्रीहरिने अपने सखा-तुम्हारे पति-श्रीअर्जुनजीके द्वारा मुझे बुलाया। मुझे अपने चरण स्पर्शकी इच्छा वाली समझकर अपनाया और मेरा पाणिग्रहण किया। जीजी! मैं रानी फानी तो हूँ नहीं। भगवान्के भवनकी भंगिनि हूँ, घरमें झाडू बुहारू देती रहती हूँ।"

तब द्रौपदीजी मित्रविन्दासे बोलीं—"बहिन! तुम भी अपने विवाहका समाचार सुनाओ।"

मित्रविन्दाने कहा—"जीजी! मैं क्या सुनाऊँ। मेरे भाई तो, नहीं चाहते थे, मैं श्यामसुन्दरको वरूँ। उनकी इच्छा मुझे दुर्योधनको देनेकी थी। इसी उद्देश्यसे मेरा बनावटी स्वयंवर रचा गया। मैं चाहती थी, किसी प्रकार मुझे श्यामसुन्दर मिलें। मेरे भावको जानकर भगवान् अकस्मात् स्वयंवरमें आ टपके और सियारोंके बीचसे जैसे सिंह अपना भाग लेकर चला जाता है, वैसे ही ये स्वयंवरमें आये समस्त राजाओंको तथा मेरे भाइयोंको जीतकर मुझे लेकर द्वारका पुरीमें आ गये। वहाँ मेरे साथ विधिवत् विवाह कर लिया। अब मैं भगवानके चरण धोनेका कैंकर्य नित करती हूँ और इन अखिलेश्वरसे यही माँगती रहती हूँ कि यह कैंकर्य मुझे जन्म जन्मान्तरोंमें प्राप्त होता रहे।"

यह सुनकर द्रौपदीजी बोलीं—"सत्या बहिन तुम भी अपने की कथा सुनाओ।"

त्या बोलीं—"अरी, जीजी! मेरे विवाहकी क्या सुनोगी। ाने बड़े मरखने, बड़े हृष्ट पुष्ट, बड़े तीखे सींगों वाले सात जाओंके पुरुषार्थकी परीक्षाके लिये पाल रखे थे। उन्होंने ी थी—"जो इन सातों बैलोंको पकड़कर नाथ देगा, मैं अपनी कन्याका विवाह करूँगा।"

आत्मसमर्पण कर दिया। उन दिनों ये सुन्दर तो इतने ही थे, किन्तु उस सौंदर्य रसके आस्वादनका एकमात्र अधिकार भगवती जनक नन्दिनीको ही सौंप रखा था। मेरे पिताने प्रार्थनाभी की— "प्रभो ! मेरी पुत्री आपकी ही दासी बनना चाहती है, इसे आप अपनावें।"

उस समय भगवान् बोले—"मुझसे भूल हो गयी, इस अवतारमें मैंने एक पत्नीव्रतका ही नियम ले रखा है। अच्छी बात है दूसरा जब मैं प्रेमावतार लूँगा, तब तुम्हारी पुत्रीको अपनाऊँगा। तभीसे मैं इस सरस अवतारकी प्रतीक्षा कर रही थी। मेरे पिता गुहामें रहते थे। सिंहको मारकर वे उससे स्यमन्तक मणि छीन लाये। उस मणिको खोजते खोजते श्यामसुन्दर हमारी गुहामें पहुँचे। मेरे पिताको अपने बलका बड़ा अभिमान था। वे भगवान्को पहिचान न सके कि ये ही मेरे स्वामी राम ही कृष्ण का वेष बनाकर मणि खोजने आये हैं। मेरे [illegible] सत्ताईस

तपस्या किया करती थी, मेरे अभिप्रायको समझकर श्रीहरिने अपने सखा-तुम्हारे पति-श्रीअर्जुनजीके द्वारा मुझे बुलाया। मुझे अपने चरण स्पर्शकी इच्छा वाली समझकर अपनाया और मेरा पाणिग्रहण किया। जीजी! मैं रानी फानी तो हूँ नहीं। भगवान्‌के भवनकी भंगिनि हूँ, घरमें झाड़ू बुहारू देती रहती हूँ।"

तब द्रौपदीजी मित्रविन्दासे बोलीं—"बहिन! तुम भी अपने विवाहका समाचार सुनाओ।"

मित्रविन्दाने कहा—"जीजी! मैं क्या सुनाऊँ। मेरे भाई तो, नहीं चाहते थे, मैं श्यामसुन्दरको वरूँ। उनकी इच्छा मुझे दुर्योधनको देनेकी थी। इसी उद्देश्यसे मेरा बनावटी स्वयंवर रचा गया। मैं चाहती थी, किसी प्रकार मुझे श्यामसुन्दर मिलें। मेरे भावको जानकर भगवान् अकस्मात् स्वयंवरमें आ टपके और सियारोंके बीचसे जैसे सिंह अपना भाग लेकर चला जाता है, वैसे ही ये स्वयंवरमें आये समस्त राजाओंको तथा मेरे भाइयोंको जीतकर मुझे लेकर द्वारका पुरीमें आ गये। वहाँ मेरे साथ विधिवत् विवाह कर लिया। अब मैं भगवान्‌के चरण धोनेका कैंकर्य नित करती हूँ और इन अखिलेश्वरसे यही माँगती रहती हूँ कि यह कैंकर्य मुझे जन्म जन्मान्तरोंमें प्राप्त होता रहे।"

यह सुनकर द्रौपदीजी बोलीं—"सत्या बहिन तुम भी अपने ब्याहकी कथा सुनाओ।"

सत्या बोलीं—"अरी, जीजी! मेरे विवाहकी क्या सुनोगी। मेरे पिताने बड़े मरखने, बड़े हृष्ट पुष्ट, बड़े तीखे सींगों वाले सात साड़ राजाओंके पुरुषार्थकी परीक्षाके लिये पाल रखे थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी—"जो इन सातों बैलोंको पकड़कर नाथ देगा, उसके साथ मैं अपनी कन्याका विवाह करूँगा।"

हृदया जान पड़ती हो विस्तारके साथ प्रांजल भाषामें साहित्यिक ढङ्गसे सुनाना।"

यह सुनकर लक्ष्मणा हँसीं और बोलीं—"जीजी! अपने विवाहकी बातें ऐसे सुनानी तो न चाहिए किन्तु, जब आपका आग्रह ही है, तो सुनाती हूँ सुनो। देवि! मेरे घरमें बार बार नारद मुनि आया करते थे। मैं अपने पिताकी अत्यंत ही प्यारी दुलारी कुमारी थी। मुझे वे नयनके पुतलियोंके भाँति रखते। सदा गोदोंमें लिये रहते। यहाँ तक कि राज दरबारमें भी मैं उनकी गोदीमें बैठी रहती। देवर्षि भगवान् नारद जब जब भी आते तभी तब वे भगवान्के दिव्य जन्म और अलौकिक कर्मोंका ही गुणगान करते। वे गीत भी उनके सम्बन्धके गाते। जब वे भगवान्के गुणोंका वर्णन करने लगते तो तन्मय हो जाते, अधीर हो जाते और अपने शरीरकी सुधि बुधि तक भूल जाते। मैं अबोध बालिका थी, न जानें क्यों मुझे नारदजीके मुखसे भगवान्के चरित्र बड़े ही मधुर प्रतीत होने लगे। मेरे मनमें बार-म्बार यह प्रश्न उठता—"भगवान् श्रीनिवास कितने सुन्दर होंगे, कैसे वे मनोज्ञ होंगे। मुझे किस प्रकार उनके दर्शन होंगे। इन बातोंको सोचते सोचते मैं तन्मय हो जाती। अब शनैः शनैः मेरा मदनमोहनके प्रति अनुराग बढ़ने लगा। चित्तमें एक प्रकारकी तड़पन होने लगी। मैं निरंतर सोचती रहती—"लक्ष्मीनिवास क्या मुझे अपनावेंगे, क्या मुझे वे अपने चरणोंकी दासी बनावेंगे, क्या वे मेरी चिरकालकी साधको पूरी करेंगे। जीजी! अधिक क्या कहूँ, तुमसे क्या संकोच मेरा चित्त भगवान् वासुदेवमें आसक्त हो गया।"

मेरे पूज्य पिताजी तो मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते ही थे। सखियों द्वारा मेरे मनका भाव मेरी माताको विदित हुआ। माताने पिताजीसे कह दिया। मेरे पिता महाराज

भगवान्‌ने भी यह बात सुनी, मेरा आन्तरिक भाव भी समझ गये। व्रजमें ये बैल नाथना सीख ही चुके थे। तुरन्त सातोंको बड़े वेगसे पकड़कर एक साथ ही नाथ दिया और बकरीके बच्चों की भाँति उन्हें बाँध दिया। उनके लिये यह खेल था। साधारण-क्रीड़ा थी। हँसी हँसीमें बिना प्रयासके उन्होंने यह सब कर दिया। बीचमें कुछ राजाओंने विघ्न डाला। उन्हें भी मारकर चतुरङ्गिनी सेना सहित और पिताके दिये दहेज सहित मुझे अपनी पुरीमें ले आये तभीसे मैं इनके चरणोंकी सेवा करती हूँ। और सब तो रानियाँ हैं मैं तो एक तुच्छ दासी हूँ और यही इनसे प्रार्थना करती हूँ कि जन्म जन्मान्तरोंमें यही दास्य भाव मुझे प्राप्त होता रहे।"

तब द्रौपदीजीने भद्रासे कहा—"बहिन ! तुम्हें भगवान् कैसे छीन झपटकर लाये।"

हँसकर भद्रा बोली—"जीजी मेरे लिये भगवान्‌को छीन झपट नहीं करनी पड़ी। मैं तो इनकी फूआकी लड़की हूँ न। मेरा इनमें अत्यंत अनुराग हो गया था। मेरे पिताने सोचा—"कोई बात नहीं लड़की घरकी घरमें ही रह जावे। अतः उन्होंने इन्हें बुलाकर मुझे विधिवत् दे दिया। साथमें अक्षौहिणी सेना तथा बहुतसी दास दासियाँ और अन्य भी दहेजकी वस्तुएँ दीं। अब मुझे इनके चरण स्पर्शका नित्य ही सौभाग्य प्राप्त होता है और यही इनसे मनाती हूँ कि जन्म जन्मान्तरोंमें मुझे ऐसा ही सौभाग्य सदा प्राप्त होता रहे। जीवका इसीमें कल्याण है, यही परम पुरुषार्थ है, यही श्रेय है, यही प्राप्य स्थान है।"

द्रौपदीजीने कहा—"लक्ष्मणा बहिन ! तुमने मेरे विवाहकी बात पूछी थी, अब तुम भी अपने विवाहकी बात बताओ। औरोंकी तरह संक्षेपमें न कहना लज्जा भी न करना तुम तो कवि

हृदया जान पड़ती हो विस्तारके साथ प्रांजल भाषामें साहित्यिक ढङ्गसे सुनाना।"

यह सुनकर लक्ष्मणा हँसीं और बोलीं—"जीजी! अपने विवाहका बातें ऐसे सुनानी तो न चाहिए किन्तु जब आपका आग्रह ही है, तो सुनाती हूँ सुनो। देवि! मेरे घरमें बार बार नारद मुनि आया करते थे। मैं अपने पिताकी अत्यंत ही प्यारी दुलारी कुमारी थी। मुझे वे नयनके पुतलियोंके भाँति रखते। सदा गोदीमें लिये रहते। यहाँ तक कि राज दरबारमें भी मैं उनकी गोदीमें बैठी रहती। देवर्षि भगवान् नारद जब जब भी आते तभी तब वे भगवान्के दिव्य जन्म और अलौकिक कर्मोंका ही गुणगान करते। वे गीत भी उनके सम्बन्धके गाते। जब वे भगवान्के गुणोंका वर्णन करने लगते तो तन्मय हो जाते, अधीर हो जाते और अपने शरीरकी सुधि बुधि तक भूल जाते। मैं अबोध बालिका थी, न जानें क्यों मुझे नारदजीके मुखसे भगवान्के चरित्र बड़े ही मधुर प्रतीत होने लगे। मेरे मनमें बार-म्बार यह प्रश्न उठता—"भगवान् श्रीनिवास कितने सुन्दर होंगे, कैसे वे मनोज्ञ होंगे। मुझे किस प्रकार उनके दर्शन होंगे। इन बातोंको सोचते सोचते मैं तन्मय हो जाती। अब शनैः शनैः मेरा मदनमोहनके प्रति अनुराग बढ़ने लगा। चित्तमें एक प्रकारकी तड़पन होने लगी। मैं निरंतर सोचती रहती—"लक्ष्मी-निवास क्या मुझे अपनावेंगे, क्या मुझे वे अपने चरणोंकी दासी बनावेंगे, क्या वे मेरी चिरकालकी साधको पूरी करेंगे। जीजी! अधिक क्या कहूँ, तुमसे क्या संकोच मेरा चित्त भगवान् वासुदेवमें आसक्त हो गया।"

मेरे पूज्य पिताजी तो मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते ही थे। सखियों द्वारा मेरे मनका भाव मेरी माताको विदित हुआ। माताने पिताजीसे कह दिया। मेरे पिता महाराज

बृहत्सेन सोचमें पड़ गये उन्होंने एक उपाय रचा। उन्होंने सोचा "वैसे मैं अपनी पुत्रीका विवाह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ कर दूँ तो न इसमें मेरी प्रतिष्ठा है न उनकी। अतः मैं अपनी प्यारी पुत्रीको वीर्य शुल्का घोषित करके स्वयंवर रचूँ। जो राजा मेरे पणको पूर्ण कर देगा, वीर्यके शुल्कको चुका देगा, वही मेरी पुत्रीका पति होगा। यह तो निश्चय ही है कि भगवान् श्यामसुन्दर बल और वीर्यमें सबसे श्रेष्ठ हैं। उनके लिये कोई कार्य असंभव नहीं। इस प्रकार वे सब राजाओंके समक्ष वीर्यका शुल्क चुका कर मुझे वरण करेंगे, तो उनके सुयशका विस्तार होगा, मेरी पुत्रीकी ख्याति होगी और हम ज्ञाति वालोंका भी गौरव बढ़ेगा। यही सब सोचकर मेरे पिताने वही उपाय रचा जो तुम्हारे पिताने तुम्हारे स्वयंवरमें अर्जुनजीकी प्राप्तिके निमित्त रचा था। जिस प्रकार तुम्हारे पिताने मत्स्य वेधका आयोजन किया था, वैसा ही आयोजन मेरे पिताने किया। मेरे पिताने एक उससे भी अधिक विशेषता कर दी। तुम्हारे स्वयंवरमें तो यह था कि एक खम्भा गड़ा था उस पर एक घूमने वाला यन्त्र था उस घूमने वाले यन्त्रमें एक मछली टँगी थी। वह मछली यन्त्रके साथ घूम रही थी। उस घूमती हुई मछलीको वेधना था। यह बड़ा कठिन काम था, घूमती हुई मछली पर लक्ष्य जमाकर उसे वेधना। आपके यहाँकी मछली खुली हुई थी, मेरे पिताने यन्त्र तो वैसा ही बनवाया, वैसी ही उस पर मछली टाँगी, किन्तु उसे बाहरसे ढक दिया था। केवल जलमें उसका प्रतिबिम्ब दीखता था। प्रतिबिम्बको देखकर ढकी हुई घूमती हुई मछलीके सिरको काटना था। यह सामान्य कार्य नहीं था, किन्तु मेरे पूज्य पिताजीको विश्वास था कि श्यामसुन्दर इस लक्ष्यको अवश्य वेधेंगे। इसी हेतु उन्होंने समस्त राजाओंको निमंत्रण पठाया।

मेरे स्वयम्वर का सुखद समाचार सुनकर सभी दिशाओं से सेना और शस्त्रों से सुसज्जित सहस्रों नरपति गण मेरे पिता की पुण्य पुरी में पुरोहितों के सहित पधारने लगे। देवि! उस समय राजा और राजकुमारों का वहाँ बड़ा जमघट हुआ था। चारों ओर अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक ही सैनिक दिखायी दे रहे थे। तुरहियाँ बज रहीं थी, अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं। मंगल गीत गाये जा रहे थे। मुझ से प्रथम मेरे पिता की पुरी सजाई गयी थी। मानों उसका भी विवाह होगा। उस समय इतने बाजे बजते थे, कि लोग संकेतों से बातें करते थे। मेरे पिता उन दिनों बड़े व्यस्त रहते थे। उन्हें प्रतिक्षण यही चिन्ता बनी रहती थी, कि आगत राजाओं के स्वागत सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि न रहने पावें। आगन्तुकोंकी मान मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा तथा आयु बल के अनुरूप ही आतिथ्य हो। जितने राजा आये थे, सभी मुझे प्राप्त करना चाहते थे। सभी सोचते थे, राजकुमारी हमें ही मिलेगी, किन्तु उनमें से मैं किसी की ओर फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहती थी। मेरे मनमें तो मदन मोहनकी मन-मोहिनी मनोहर मूरति बसी थी। मैं तो निरन्तर उन्हींका चिन्तन करती रहती, उन्हीं की टोह लगाती रहती, कि वे मेरे चित्त को चुराने वाले चितचोर आये या नहीं।

जीजी! बात बढ़ाने से क्या लाभ स्वयम्वरकी नियत तिथी आ गयी। उस दिन श्यामसुन्दर भी आ गये, मेरे हर्षका ठिकाना नहीं था। हृदय धक धक कर रहा था। आशा निराशा के बीच में मैं झोटे से खा रही थी। प्रेम में सदा शंका बनी रहती है। नयों साथ रहने पर भी मन में पूर्ण विश्वास नहीं होता, वे मुझे हृदय से चाहते हैं या नहीं फिर मैंने तो अभी श्यामसुन्दर के दर्शन भी नहीं किये थे। मेरे मन में विचारों का बवंडर उठ रहा था। संकल्पों का सतत संघर्ष हो रहा था। हृदय सागर में तीव्र

हिलोरें आ रहीं थीं। उस समय की मेरी दशा अवर्णनीय थी।

स्वयम्वर मंडप अत्यंत ही कला पूर्ण ढँग से सजाया गया था। सुन्दर से सुन्दर सिंहासन उसमें बिछाये गये थे। सबों पर आगत राजाओं के नाम लिखे थे, सभी यथा समय सज बजकर अपने अपने सिंहासन पर बैठ गये। मत्स्यवेध के स्थान में धनुष और बहुत से बाण रखे थे। क्रमानुसार राजा उठ उठ कर लक्ष्य वेध के लिये प्रयत्न करने लगे। किन्हीं पर तो धनुष ही न उठा किन्हीं ने धनुष तो उठा लिया किन्तु प्रत्यञ्चा चढ़ाने में अपने को असमर्थ पाकर वे अपने स्थान को लौट गये। कुछ राजा बल पूर्वक डोरी को खींच कर दूसरे सिरे तक ले तो गये थे, किन्तु सिरे में बाँधते समय उनके हाथ से डोरी छूट गयी और उसकी आघात से चारों कोने चित्त गिर पड़े। पीछे चेत होने पर वस्त्रों को झाड़ते हुए खिसियाये हुए अपने आसन पर जा बैठे। दूसरे राजा गण हँस रहे थे, वे लज्जा के कारण किसी से आँखें नहीं मिलाते थे। अब वे राजा उठे जिन्हें अपने बल वीर्य का बड़ा अभिमान था। उनमें दुर्योधन, कर्ण, जरासन्ध, शिशुपाल, तुम्हारे दूसरे पति भीमसेन तथा अम्बष्ठ आदि मुख्य थे। इन जगत् प्रसिद्ध वीरों ने बड़े लाघव से धनुष पर डोरी चढ़ाली, उस पर बाण भी चढ़ाया, किन्तु जल में परछाईं देखकर ज्यों ही बाण छोड़ा त्यों ही लक्ष्य की स्थिति न जानने के कारण वह लक्ष्य को चूककर अन्यत्र लगा।

सब से पीछे तुम्हारे तीसरे पति अर्जुन उठे। सब को आशा थी, ये लक्ष्य को अवश्य वेध देंगे। मैं भी अत्यंत उत्सुकता के साथ सखियों के बीच में बैठी झरोखे से देख रही थी। मुझे भी भय हो रहा था, कि कहीं इन्होंने लक्ष्य भेद दिया तो सब गुड़ गोबर हो जायगा।"

हँसते हुए द्रौपदी जी ने कहा—'गुड़ गोबर क्या हो जाता,

वे वेध देते तो तुम मेरी सौत हो जाती क्यों तुम्हें गांडीवधारी मेरे पति अच्छे नहीं लगे ?"

शीघ्रता से लक्ष्मणा बोली—"अच्छे लगने न लगने की बात नहीं है जीजी ! संसार में न कोई अच्छा है न बुरा । अच्छाई बुराई तो हमारे मन के ऊपर है, जिसे हम अच्छा कहती हैं, दूसरे उससे घृणा करते हैं. जो हमें अत्यंत बुरा लगता है, जिसे हम फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहते दूसरे उसके ऊपर प्राण देने को तत्पर हो जाते हैं । मन ने जिसे अच्छा मान लिया वह अच्छा है माह्य है। उसके अतिरिक्त चाहे कोई कितना भी अच्छा हो वह उसके लिये बुरा है । विष के कीड़ा को विष ही अच्छा लगता है । पपीहा स्वाति की बूँद को छोड़ कर अमृत की ओर भी नहीं देखता चकोरी चन्द्रमा को ही निहारती रहती है । यद्यपि वह जानती है, चन्द्रमा बहुत दूर है, कहाँ चन्द्रमा और कहाँ मैं, किन्तु प्रेमी छुटाई बड़ाई का व्यवधान नहीं देखता । वह तो सभी उपायों से अपने प्रेष्ठ से मिलना चाहता है । देखो, चकोरी को जब चन्द्र को सम्मुख देखते हुए भी उसे प्राप्त नहीं करती तब श्मशान में जाकर जलती हुई चिताओं में से अग्नि ले लेकर खाने लगती है.श्मशान में इसलिये खाती है, कि अग्नि खाने से मैं यहीं भस्म हो जाऊँगी । सुनती हूँ श्मशान की भस्म को शिवजी अपने शरीर में लगाते हैं और शिवजी के मस्तक पर चन्द्रमा रहते हैं, तो संभव है भस्म बनकर भी मैं अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकूँ ।"

यह सुनकर हँसती हुई द्रौपदी जी बोलीं—"तुम तो सचमुच कविता करने लगीं । अच्छा, कृष्ण चन्द्र की चकोरी ! हाँ, हाँ अपने स्वयम्वर की आगे की बात सुनाओ। मेरे पति पर लक्ष्य वेध नहीं हुआ, इसे मैं मान लेती हूँ, आगे कहो क्या हुआ ! कैसे लक्ष्य हुए तुम्हारे चन्द्र !"

हँसकर लक्ष्मणा बोली—"नहीं, नहीं तुम्हारे पति ने बड़ी बुद्धि मत्ता से बाण चढ़ाया। जल में मछली की परछाईं देखकर लक्ष्य की स्थिति भी भली भाँति समझ ली। बाण भी बड़ी सावधानी से छोड़ा। लक्ष्य में लगा भी किन्तु उसे स्पर्श करता हुआ आगे निकल गया। वे उसे वेध न सके।

अब जब सब शान्त हो गये, फिर कोई उठा ही नहीं। तब हँसते हुए अल्लड़पने से श्यामसुन्दर उठे। उनकी हँसी विश्व विमोहक थी। मैं सम्हल कर बैठ गयी। मेरा शरीर काँप रहा था, उसमें से पसीना निकल रहा था। बार बार मैं अपनी बिखुरी अलकावली को सम्हाल रही थी। सखियाँ मेरी इस दशा पर मन ही मन हँस रही थीं वे सैनों ही सैनों में परस्पर कुछ कह रही थीं। मेरा उनकी ओर ध्यान ही नहीं था, मैं माधव के मधुर मुखमकरन्द को भ्रमरी बनी अव्यग्र भाव से पान कर रही थी। अभिमानी राजा मन ही मन जल रहे थे। मेरे हितैषियों के मुख कमल खिल रहे थे। श्यामसुन्दर के काले काले घुँघराले बाल हिलरहे थे। सूर्य अभिजित नक्षत्रसे मिल रहे थे। मदन मोहनने बिना प्रयासके लीलासे ही धनुषको उठा लिया, उसपर बाण चढ़ा दिया क्षणभरमें लक्ष्यका निर्णय किया और तककर तीर चला ही तो दिया। तीरके लगते ही लक्ष्य कटकर भूमिपर गिर गया। लक्ष्य वेध होते ही सब के मुख से एक साथ ही निकल पड़ा—"जय हो, जय हो!" आकाश में देवगण दुन्दुभी बजाने लगे। पारिजातके पुष्पों की वृष्टि होने लगी। सर्वत्र हर्ष उल्लास और उत्साह छा गया। मेरी उस समय क्या दशा थी, दीदी! वह कही नहीं जा सकती। ऐसे विषय कहे नहीं जा सकते, उनका अनुभव ही होता है।

मेरी सखियों ने मेरा शृंगार किया। अति सुन्दर नूतन कोरे दो रेशमी वस्त्र मुझे पहिनाये गये। मेरी चोटी अत्यंत कलापूर्ण

ढँगसे बाँधी गयी, उसमें रंग बिरंगे पुष्प, दिव्य सुगंधित सुमनों की सुन्दर मालायें लगायी गई। सखियों ने मुझे सब प्रकारसे सजाकर, सोलह शृङ्गार करके मंडपमें ले जाने योग्य बना दिया। मेरा मन बाँसों उछल रहा था, उसे मैं हाथोंसे दबा दबाकर उछलनेसे मना कर रही थी। आँखोंमें लज्जा देवीने अधिकार जमा लिया। मुखपर आकर मंद मंद मुसकान छिटकने लगी। मैं सखियोंसे घिरी हुई, हाथमें सुवर्णसे दमकती मणिमयी विजय माला लिये हुए अपने चरणोंके नूपुरसे पथको मुखरित करती हुई, पराजित नृपतियोंके मनमें क्षोभ ग्लानि और ईर्ष्याको उपजाती हुई, लजाती, सकुचाती, सिहाती, हिय हुलसाती, मालाको हिलाती रङ्गशालाकी ओर चल दी।

मेरे नयन उठना चाहते थे, किन्तु मुख ऊपर उठना ही नहीं चाहता था। सखियोंकी सहायतासे श्यामसुन्दरके सुन्दर सिंहासनके समीप मैं कब पहुँच गयी, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं। मेरे मुखपर मेरे कानोंमें पड़े कुण्डलोंकी कमनीय कांति छिटक रही थी, उसे हरनेको मेरे कुटिल केश हिल हिलकर उस ओर आ रहे थे। मैं शीघ्रतासे उन्हें हाथोंसे बरज देती, किन्तु वे पुनः लटक जाते, हिलने लगते। मेरी एक मुँहलगी सखीने चुपकेसे मुझे नोंच लिया। तिलमिलाकर ज्यों ही मैंने कपोलोंकी कान्तिसे युक्त अपना मनोहर मुख ऊपर उठाया उस सखीको बरजनेके मिससे शरचन्द्रिकाके समान सुमधुर हास्ययुक्त कटाक्षभंगीसे ज्यों ही सिंहासनों पर बैठे हुए समस्त राजाओंकी ओर एक विहङ्गम दृष्टि डाली, त्यों ही मुझे सम्मुख विराजमान बनवारी दिखायी दिये। उन्हें देखते ही मेरा चित्त अनुरागसे परिप्लावित हो उठा। मेरे दोनों हाथ स्वतः ही ऊपर उठ गये। उनके शङ्खके समान कंठवाले अंसोंके बीचमें मेरे हाथकी माला कब पड़ गयी, इसका मुझे कुछ पता ही न चला। मुझे पता तो तब चला जब सहसा एक साथ मृदङ्ग, पणव

किसीके सिर धड़से पृथक हो गये। इनके बाण तो सबके लगते थे, किन्तु उन राजाओंका एक भी बाण इनके शरीरको नहीं छूता था। कवच धारण किये शार्ङ्ग धनुषसे उसी प्रकार बाण छोड़ रहे थे, मानों इन्द्र श्रावण भादों मासमें वर्षा कर रहे होंगे। वे अभागे नृपतिगण अधिक पीड़ा न कर सके कुछ ही क्षणमें तितर बितर हो गये, रण छोड़कर भाग गये।

रथ अपने पूरे वेगसे दौड़ रहा था, जिस प्रकार रथ मार्गके वृक्षोंको छोड़ता जाता था उसी प्रकार मैं भी अपनी पूर्व स्मृतियों-को छोड़ती जाती थी। उसी समय मुझे दूरसे द्वारका पुरीके ऊँचे ऊँचे सुवर्ण मंडित भवनों पर लगी हुई ध्वजाएँ दिखाई दीं। मेरा मनमयूर नृत्य कर रहा था। श्यामसुंदरके सङ्ग रथमें बैठे हुए मुझे कैसा लग रहा था, उसे कैसे कहूँ जीजी! तुम ही समझ लो। जैसे सायंकालके समय सविता अस्ताचलमें प्रवेश करते हैं वैसे ही द्वारकानाथने अपनी त्रिभुवन प्रशंसित पुरीमें प्रवेश किया। हम सब द्वारकामें आ गये। मैं दासियोंसे घिरी एक भव्य भवन-में ठहरायी गयी। श्यामसुन्दरने फिर मेरा स्पर्श भी न किया। वह रात मैंने कैसी विकलतासे बिताई उसे मैं ही जानती हूँ।

दूसरे दिन क्या देखती हूँ, मेरे पूजनीय पिता, भाई, सुहृद, सम्बन्धी तथा अन्यान्य कुटुम्बी सब द्वारावतीमें आ गये हैं। इधर मेरे भाई बन्धु तो मुझे सजा रहे थे और समस्त यादव मिलकर द्वारावती को सजा रहे थे। उसमें इतनी रङ्ग बिरङ्गी छोटी बड़ी, विवित्र प्रकारकी ध्वजा, पताका तथा वन्दन वारें लगायी गयी थीं कि उनकी ओटमें सूर्य नारायण भी दिखायी नहीं देते थे। पुरीके सम्पूर्ण पथ परिष्कृत किये गये थे, सभी आनंदमें विभोर होकर महोत्सव मना रहे थे। वेदज्ञ ब्राह्मणोंने विधिवत् मेरा विहारीके साथ विवाह कराया। मेरे पिताने नाना प्रकारके अमूल्य वस्त्र, आभरण, शय्या, आसन, पात्र और अन्य

पटह, शङ्ख भेरी और आनक आदि असंख्यों मङ्गल वाद्य बजने लगे। नट नर्तक अपनी अपनी कलाओंका प्रदर्शन करने लगे। नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं, गायक गाने लगे और सूत मागध बन्दी स्तुति पाठ करने लगे। मैंने आँख भरकर श्यामसुन्दरको देखा। उन्होंने भी अपनी बड़ी बड़ी विशाल कमलके सदृश अनुराग भरी आँखोंसे मुझे निहारा। चार आँखें होते ही मेरी दृष्टि अपने आप झुक गयी, मैं फिर उन्हें देखना ही चाहती थी कि राजसभामें बड़ा भारी हुल्लड़ मचा। "देखो, सावधान! सावधान! राजकुमारीको पकड़ लो, गोपाल राजकुमारीको ले जाने न पावे।" इस प्रकार बहुतसे बक रहे थे, बहुतसे दौड़ रहे थे। कई राजा तो मेरे समीप आ गये। वे मुझे उठाना ही चाहते थे। मैं काठकी पुतली बनी वहाँ खड़ी थी, डर रही थी, कुछ निर्णय ही न कर सकी क्या करूँ। मुझे भयभीत होते देखकर श्यामसुन्दर तुरन्त चतुर्भुज बन गये। मेरे सम्मुख ही कमलनालके सदृश उनकी दो विशाल भुजाएँ और निकल आयीं। उन्होंने तुरन्त दो भुजाओंसे तो मुझे उठाकर अपने उत्तम चार घोड़ों वाले रथमें बिठाया और दो हाथोंमें धनुष बाण लेकर मुझे पकड़ने वाले राजाओंको रोका।

मुझे सान्त्वना देनेके निमित्त दो हाथोंसे तो मुझे पकड़े हुए थे, दो हाथोंमें धनुष बाण लेकर युद्धके लिये उद्यत थे। उन्होंने तुरंत अपने सारथीको संकेत किया। महा बुद्धिमान् दारुक सारथीने संकेत पाते ही भगवान्‌का वह सुवर्ण मंडित गरुड़की ध्वजावाला विशाल रथ हाँक दिया। ग्रामसिंह जैसे दौड़कर सिंहको रोकना चाहते हैं उसी प्रकार बहुतसे नृपतिगण अस्त्र शस्त्र लेकर श्यामसुन्दरके रथके पीछे दौड़े, किन्तु जीजी! मैं क्या कहूँ, उनकी चतुरता। वे हँस रहे थे और साथ ही बाणोंको भी छोड़ रहे थे। उन अमोघ बाणोंसे किसीके हाथ कट गये, किसीके पैर कट गये।

किसीके सिर धड़से पृथक् हो गये। इनके बाण तो सबके लगते थे, किन्तु उन राजाओंका एक भी बाण इनके शरीरको नहीं छूता था। कवच धारण किये शार्ङ्ग धनुषसे उसी प्रकार बाण छोड़ रहे थे, मानों इन्द्र श्रावण भादों मासमें वर्षा कर रहे होंगे। वे अभागे नृपतिगण अधिक पीड़ा न कर सके कुछ ही क्षणमें तितर बितर हो गये, रण छोड़कर भाग गये।

रथ अपने पूरे वेगसे दौड़ रहा था, जिस प्रकार रथ मार्गके वृक्षोंको छोड़ता जाता था उसी प्रकार मैं भी अपनी पूर्व स्मृतियों-को छोड़ती जाती थी। उसी समय मुझे दूरसे द्वारका पुरीके ऊँचे ऊँचे सुवर्ण मंडित भवनों पर लगी हुईं ध्वजाएँ दिखाई दीं। मेरा मनमयूर नृत्य कर रहा था। श्यामसुंदरके सङ्ग रथमें बैठे हुए मुझे कैसा लग रहा था, उसे कैसे कहूँ जीजी! तुम ही समझ लो। जैसे सायंकालके समय सविता अस्ताचलमें प्रवेश करते हैं वैसे ही द्वारकानाथने अपनी त्रिभुवन प्रशंसित पुरीमें प्रवेश किया। हम सब द्वारकामें आ गये। मैं दासियोंसे घिरी एक भव्य भवन-में ठहरायी गयी। श्यामसुन्दरने फिर मेरा स्पर्श भी न किया। वह रात मैंने कैसी विकलतासे बिताई उसे मैं ही जानती हूँ।

दूसरे दिन क्या देखती हूँ, मेरे पूजनीय पिता, भाई, सुहृद, सम्बन्धी तथा अन्यान्य कुटुम्बी सब द्वारावतीमें आ गये हैं। इधर मेरे भाई बन्धु तो मुझे सजा रहे थे और समस्त यादव मिलकर द्वारावती को सजा रहे थे। उसमें इतनी रङ्ग बिरङ्गी छोटी बड़ी, विचित्र प्रकारकी ध्वजा, पताका तथा वन्दन वारें लगायी गयी थीं कि उनकी ओटमें सूर्य नारायण भी दिखायी नहीं देते थे। पुरीके सम्पूर्ण पथ परिष्कृत किये गये थे, सभी आनंदमें विभोर होकर महोत्सव मना रहे थे। वेदज्ञ ब्राह्मणोंने विधिवत् मेरा बिहारीके साथ विवाह कराया। मेरे पिताने नाना प्रकारके अमूल्य वस्त्र, आभरण, शय्या, आसन, पात्र और अन्य

गृहस्थोपयोगी वस्तुएँ दहेजमें दीं। नाना प्रकारकी अनुनय विनय करके भगवान्का सम्मान किया। पिताकी मैं अत्यंत प्यारी थी। पिता प्रभुके हाथमें मेरा हाथ देकर ऐसे प्रसन्न हो गये थे मानों मुझे कितनी अमूल्य निधि मिल गयी। उन्होंने सेवा करनेके लिये सहस्रों सुन्दरी युवती दासियाँ, सब प्रकारकी सुख सम्पत्ति, हाथी घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा, रथ तथा पालकी आदि मेरे विवाहके उपलक्ष्यमें दीं। मैं अब उनकी पत्नी बन गयी, वे मेरे स्वामी हो गये। बराती अपने अपने घर चले गये। दो दिनका धूम धड़का समाप्त हुआ, किन्तु हमारा प्रेम समाप्त नहीं हुआ, वह दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही गया। जीजी! मुझे अपने सौभाग्यपर गर्व है। भगवान्ने जैसी मेरी सुनी वैसी वे सबके सुनें। भगवान्‌को पति पाना कोई साधारण पुण्यका फल नहीं है। हम सब बहिनोंने पूर्व जन्मोंमें अवश्य ही कोई घोर तप किया होगा, कोई बड़ा भारी अनुष्ठान व्रत या पुण्यकर्म किया होगा, उसीके प्रभाव से तो हम इन आत्माराम आप्तकाम सच्चिदानदघन भगवान् श्यामसुन्दरकी चरण दासियाँ बन सकीं। जीजी! मैं कुछ पढ़ी लिखी नहीं हूँ, कहनेमें जो भूल चूक रह गयी हो उसे अपनी छोटी बहिन समझकर क्षमा कर देना।"

यह सुनकर द्रौपदीजी बोलीं—"बहिन! तू तो बड़ी पंडिता निकली। तैंने तो बड़ी सरस ढँगसे अपने विवाहकी कहानी सुनायी। भगवान् करें तुम सबका सुहाग अचल बना रहे।"

फिर द्रौपदीजी सोलह सहस्र एक सौ रानियोंकी ओर देखकर बोलीं—"बहिनाओ! तुम भी अपने विवाहोंका वृत्तान्त सुनाओ।"

यह सुनकर उनमें जो सबसे बड़ी रोहिणी थी वह बोली—"जीजी! हम सबका वृत्तान्त पृथक् पृथक् नहीं है। सबका एक ही वृत्तान्त है। हम सबसे विवाह भगवान्ने एक साथ ही किया। बात यह थी भौमासुर पृथिवीपुत्र बड़ा बली असुर था। वह

हम सबको हमारे पिताओंको हरा हरा कर ले आया था। वह चाहता था जब बहुत हो जायँ तो सबसे एक साथ ही विवाह करें। यह सब समाचार सुनकर श्यामसुन्दर उसके पुरमें गये। उसे मार कर वे हमारे समीप गये। हम सबकी इच्छा जानकर पूर्णकाम होने पर भी हम सबको अपना लिया। हमारा पाणि-ग्रहण करके हमें अपने चरणोंकी सेवा प्रदान की। देवि! हम साम्राज्य, इन्द्र पद, अथवा अन्य दिव्य लोकोंके भोग कुछ भी नहीं चाहतीं। हमारी इच्छा अणिमा, महिमा, गरिमा तथा लघिमा आदि सिद्धियोंको प्राप्त करनेकी नहीं है और न हम ऐश्वर्य, ब्रह्मपद, सालोक्य, सारूप्य, समीप्य आदि मोक्ष ही चाहती हैं। हम तो इन लक्ष्मी निवासके उन पादपद्मोंकी पराग को ही चाहती हैं जो लक्ष्मीजी के हृदयके केशरकी कीचसे पीली हो गयी है वही पुनीत पराग हमें मिल जाय और उसे हम अपने मस्तकोंपर धारण कर सकें, तो हमारा जीवन सफल हो जाय।

हम अन्य कुछ भी नहीं चाहतीं। जिन चरणों से हमारे स्वामी व्रजमें गौओंके पीछे पीछे डोले हैं जिसकी इच्छा गोपगण, व्रजाङ्गनायें भीलिनियाँ, दूर्वा अथवा लतायें किया करती हैं वही चरण रज हमें मिल जाय। जीजी! और हम क्या कहें, ऐसा आशीर्वाद आप हमें दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर द्रौपदीजी अत्यंत प्रसन्न हुईं और वे भगवान्‌की पत्नियोंके भाग्यकी सराहना करने लगीं। यद्यपि जब द्रौपदीजीकी और श्रीकृष्णपत्नियोंकी बातें हुई थीं, तब कोई बड़ी बूढ़ी स्त्री वहाँ नहीं थी, किन्तु भगवान्‌के विवाहकी कथा सुनकर कुन्तीजी, गान्धारीजी, सुभद्रा तथा अन्य राजपत्नियाँ भी वहाँ आ गयीं। व्रजकी गोपिकायें भी आकर बैठ गयीं। रुक्मिणी आदि भगवान्‌की सभी पत्नियोंका सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा श्यामसुन्दरमें ऐसा प्रेमबन्धन देखकर सबकी सब परम

विस्मित हुईं। प्रेमके कारण उनके नेत्रोंसे प्रेमका नीर लगा और सभी प्रभुपत्नियोंके प्रेमकी पुनः पुनः प्रशं लगीं।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी आपने भीतर स्त्रियोंकी सुनायीं, अब कुछ बाहर पुरुषोंकी भी सुनाइये। पांडवं अन्य राजाओंसे भगवान्‌की क्या बातें हुईं। भगवान्‌के द राजागण ही आये या कोई ऋषि मुनि भी आये थे।

सूतजी बोले—"महाराज! मुझसे तो आप भीतर ब जो भी बात पूछेंगे उसे ही अपने गुरुदेव भगवान् शुकको मैं बताऊँगा। भगवान्‌के दर्शनोंको सभी ... आने

...आर्य. सदा हरिः ॥

द्वितीय संस्करण छप रहा है

सचित्र

"भागवत चरित"

[सप्ताह]

जिन लोगोंने श्रीब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित "भागवती कथा" ी होगी, उन्हें विदित होगा कि इसमें प्रत्येक अध्यायके आदिमें ौर अन्तमें एक छप्पय होती है ये छप्पय परस्परमें सम्बन्धित

विस्मित हुईं। प्रेमके कारण उनके नेत्रोंसे नेहका नीर निकलने लगा और सभी प्रभुपत्नियोंके प्रेमकी पुनः पुनः प्रशंसा करने लगीं।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी आपने भीतर स्त्रियोंकी बातें तो सुनायीं, अब कुछ बाहर पुरुषोंकी भी सुनाइये। पांडवों तथा अन्य राजाओंसे भगवान्की क्या बातें हुईं। भगवान्के दर्शनोंको राजागण ही आये या कोई ऋषि मुनि भी आये थे।

सूतजी बोले—"महाराज ! मुझसे तो आप भीतर बाहरकी जो भी बात पूछेंगे उसे ही अपने गुरुदेव भगवान् शुकको कृपासे मैं बताऊँगा। भगवान्के दर्शनोंको सभी छोटे बड़े आते थे। बहुतसे ऋषि मुनि भी आये थे कहिये तो अब अन्तःपुरकी बात समाप्त करके बाहरकी ही बातें सुनाऊँ ?"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी ! अब ऋषियोंकी ही राजाओं से या भगवान्से जो बातें हुई हों उन्हें ही सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज। अब मैं आपको व्यासादि मुनियोंसे जैसे भगवान् वासुदेवजीकी कुरुक्षेत्रमें बातें हुईं उन्हें ही सुनाता हूँ, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भद्राने संक्षेप माहिँ सब बात बताई।
परम सरसतायुक्त लक्ष्मणा कथा सुनाई॥
पुनि जो सोलह सहस अधिक शत प्रभुकी पतिनी।
कही सबनि इक संग कथा करुनामय अपनी॥
हरि पत्निनि अनुराग लखि, सब अति आनंदित भईं।
भाग्य सराहत सबनिके, सब निज निज डेरनि गईं॥

—::—

"आगेकी कथा ५१वें खण्डमें पढ़े"

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीब्रह्मचारीजी महाराजकी कुछ अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँसे मिलती हैं।

१—भागवती कथा (१०८ खण्डोंमें) (४६ खण्ड छप चुके हैं) प्रति खण्डका मूल्य १।) आठ आना डाकव्यय पृथक्। १५) एक वर्ष के १२ खण्ड डाकव्यय रजिस्ट्री सहित।

२—श्री चैतन्य चरितावली (प्रथम खंड) मूल्य १॥।=) यह पहिले गीता प्रेस गोरखपुरसे पाँच भागोंमें छपा था। अब अप्राप्य है। एक खण्ड हमारे यहाँसे छप गया है और छपने वाले हैं।

३—बदरीनाथदर्शन—बदरीनाथजीपर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मूल्य ३४५ २॥।)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन मूल्य २)

५—मतवाली मीरा—भक्तिका सजीव साकार स्वरूप मूल्य २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्धमें उठने वाली तर्कोंका युक्ति पूर्ण विवेचन मूल्य ॥)

७—श्री शुक—श्रीशुकदेवजीके जीवनकी झाँकी (नाटक) मूल्य

८—भागवती कथाकी बानगी—(आरंभके तथा अन्य खण्डोंके कुछ पृष्ठोंकी बानगी, पृष्ठ संख्या १२५) मूल्य ।)

९—शोक शान्ति—शोकशान्ति करने वाला रोचक पत्र पृ० ६ इसे पढकर अपने शोक संतप्त परिवारको धैर्य बँधाइये मूल्य ।-

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम संदेश— पृष्ठ १३० मालवीयजीके जीवनके सुखद संस्मरण। मूल्य ।)

११—भारतीयसंस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ७९ मूल्य ।-) पाँचआना

१२—प्रयाग माहात्म्य—पृष्ठ ६४ मूल्य -) एक आना

१३—वृन्दावन महात्म्य मूल्य -)

१४—श्री भागवत चरित—(लग भग ६०० पृष्ठकी सजिल्द) मूल्य

१५—राघवेन्दुचरित (भागवतचरितसे ही पृथक् छापा गया है) मूल्य

पता—संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।